ध्यान एव नैतिक मूल्यों का दिग्दर्शक

सरल एव सुबोध कथानक

इन भावों का फल क्या होगा
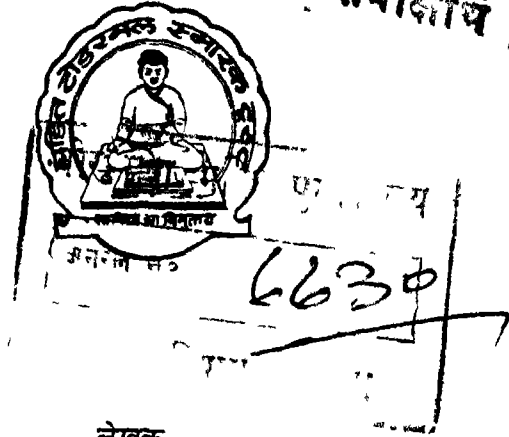
लेखक

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम ए बी एड

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

• प्रथमावृत्ति
१५ फरवरी १९९६ ई   ५ हजार

• जैनपथप्रदर्शक मे
धारावाहिक रूप से प्रकाशित   ३ हजार

मूल्य   १३ रुपये मात्र

मुद्रक
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा लि.
एम आई रोड, जयपुर

प्रकाशकीय

जैनसमाज के मूर्धन्य विद्वान् पंडित रतनचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कथा कृति "इन भावो का फल क्या होगा" प्रकाशित करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

उपन्यास शैली मे लिखी गई यह कृति 'ध्यान' को केन्द्रित करके लिखी गई है। पात्रो के चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन का केन्द्रबिन्दु मुख्यरूप से ध्यान ही है। इसकी विषयवस्तु पाठको को पाप भावो से तो सुरक्षा प्रदान करेगी ही, साथ ही नैतिक जीवन जीने और धर्मध्यान करने का मार्ग भी प्रशस्त करेगी।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से लेखक ने उन आत्मघाती एव कुगति के कारणभूत आर्त-रौद्र भावो का अहसास कराने का सफलतम प्रयास किया है जो आस्तीन के साँप बनकर अपने अन्तर मे ही निरन्तर वर्त रहे हैं एव पल-पुस रहे है।

कृति 'यथा नाम तथा गुण' वाली कहावत को चरितार्थ करती हुई प्रतीत होती है। पाठको की सुसुप्त चेतना को जागृत कर देने वाली यह कथा कृति नाम के अनुरूप ही विभिन्न पात्रो के चरित्रो द्वारा समस्त सासारिक जीवो के वर्तमान मे हो रहे आर्त-रौद्र ध्यानो का एव उनके दु:खद परिणामो का आभास कराते हुए उनसे बचने के उपायो का दिग्दर्शन इतने रोचक ढग से कराती है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

जैसाकि सर्वविदित ही है कि आधुनिक युग मे नैतिक चेतना जागृत करने के लिए कथा साहित्य सर्वाधिक प्रभावी एव सशक्त माध्यम है, इस शैली मे लिखा गया साहित्य बच्चो को तो रोचक लगता ही है, युवा पीढी एव बुजुर्ग व्यक्ति भी कथा साहित्य को एक बार पढना प्रारभ करते हैं तो पूरी पढे बिना नही छोड़ते।

"इन भावो का फल क्या होगा" नाम पढ़ते ही पाठको के मन मे एक जिज्ञासा जगेगी कि लेखक प्रस्तुत पुस्तक में किन भावो की चर्चा करना चाहते हैं ?

पुस्तक की विषयवस्तु के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं ही 'आत्मकथ्य' मे सक्षिप्त सकेत दे दिया है।

लेखक के विषय मे भी हम अधिक क्या लिखे? घर-घर मे पढ़ी जाने वाली आपकी कृतियाँ ही आपके व्यक्तित्व, कर्तृत्व एव विचारो का परिचय दे रहीं हैं।

संस्कार, विदाई की बेला, णमोकार महामत्र, सामान्य श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनुपम कृतियाँ आपकी ही देन हैं। इन कृतियो के अनेकानेक सस्करण पाठको के हाथो मे पहुँच चुके हैं।

समयसारादि ग्रन्थो पर हुये पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनो का ३ हजार से भी अधिक पृष्ठो मे आपके द्वारा किया गया गुजराती से हिन्दी अनुवाद प्रवचनरत्नाकर भाग १ से ८ तक तथा भक्तामर प्रवचन, समाधि शतक प्रवचन के रूप मे प्रकाशित हो चुके हैं।

बिना किसी झझट मे उलझे निरतर साहित्य सेवा मे लगे रहने से पण्डित रतनचदजी भारिल्ल स्वय तो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य का काम कर ही रहे हैं, अध्यात्मप्रेमियो को भी भरपूर लाभ दे रहे हैं।

इस कृति के सृजन हेतु आप निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। आप पूर्ण निरपेक्ष भाव से बिना किसी ख्याति-लाभ की अपेक्षा रखे जैन साहित्य की सेवा कर रहे हैं, एतदर्थ आपका जितना भी उपकार माना जाय, कम ही होगा।

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करने मे हमे जिन महानुभावो का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके हम हृदय से आभारी है। सभी दातारो की सूची आगे प्रकाशित की गई है।

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा लि , जयपुर को इस पुस्तक के इतने सुन्दर रूप मे मुद्रण करने के लिए हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। सदा की भाँति प्रकाशन व्यवस्था का दायित्व हमारे प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बसल ने बखूबी निभाया है, अत वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हमे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत कृति भी लेखक की अन्य कृतियों की भाँति ही पठन-पाठन मे आयेगी।

नेमीचन्द पाटनी

२५ फरवरी, १९९६

महामत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

आत्मकथ्य

इष्टानिष्ट मिथ्याकल्पनाये करते,
शोक सतप्त रहते,
दैहिक दु:ख सहते,
विषय सुख की कामनाये करते,
जो हमारे दिन बीते है,
निराकुल सुख से रहे रीते हैं,
यह आर्त ध्यान है।
दु:ख की खान है॥

दिन-रात रोते-रोते,
मोह नीद मे सोते,
दु.ख के बीज बोते,
राग-द्वेष की कालिख पोते,
हम जो अहिर्निश माथा धुनते है,
तिर्यंच गति का ताना-बाना बुनते हैं,
यह आर्त ध्यान है।
विकृत मनोविज्ञान है॥

स्व-पर प्राण हनते,
असत् प्रलाप करते,
पराया धन हडपते,
विषयो मे रत रहते,
हम जो आनन्द अनुभव करते हैं,
पाप-पक मे फसते है,
यह रौद्र ध्यान है।
दु:खद दुर्ध्यान है॥

विकथायें कहते-सुनते,
राग-रंग मे रमते;
मोह-मद पीते,
सुखाभास में जीते,
हंसते-हंसाते हम जो हर्षित होते हैं,
मानव जीवन योंही खोते हैं;
यह रौद्र ध्यान है।
नरक-निदान है॥

सचमुच, क्या हम पशुओं से गये बीते हैं ?
बुद्धिबल से बिल्कुल रीते हैं?
नहीं, अनन्तसिद्धो को देखो न ।
जिन्होंने काम-क्रोध जीते हैं,
कौन कहता है हम अधूरे है,
हम तो अनन्त गुणों से भरे-पूरे हैं।
बिन तरासे चैतन्य हीरे हैं।
तरासने की तैयारी कर रहे धीरे-धीरे हैं॥

पहन रखा था हमने अब तक,
एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व का चोगा,
इसी कारण अब तक,
चतुर्गति का दुःख भोगा,
इन्हीं भूल-भुलैयो मे भटककर,
खाते रहे धोखा ही धोखा,
यह भी नहीं समझ पाये कि -
इन भावों का फल क्या होगा ?

- रतनचन्द भारिल्ल

पाठकों के हृदयोद्गार

अन्यत्र कहीं नहीं देखा

जैनपथप्रदर्शक में किस्तों में प्रकाशित 'इन भावों का फल क्या होगा' उपन्यास निरंतर पढ़ रहा हूँ। अभी तक मैंने बहुत से उपन्यास व अन्यान्य साहित्य पढा है, किन्तु तत्त्वज्ञान कराने हेतु इतनी सरल, सुबोध व सर्वग्राह्य भाषा-शैली का प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं देखा। और न ही ऐसे सम-सामयिक; किन्तु प्राचीन (तात्त्विक) विषय को इतने रोचक और प्रासंगिक ढंग से उठाने का किसी लेखक ने प्रयास ही किया है। विद्वान लेखक का यह प्रयास स्तुत्य है।

लेखन के क्षेत्र में ऐसी प्रौढ़ अभिव्यक्ति एवं ऐसी रोचक व सरल भाषा-शैली का प्रयोग बिरले ही सरस्वती पुत्र कर पाते हैं। रतनचन्द भारिल्ल उन्हीं में एक हैं।

- शीलचन्द जैन 'जैनदर्शनाचार्य' सेरोनकला (ललितपुर)

ध्यानों का पोस्ट मार्टम

आपके पाक्षिक जैनपथप्रदर्शक मे 'इन भावों का फल क्या होगा' की १७वी कडी का अध्ययन किया। विगत १६ कड़ियों की विषयवस्तु की भाव-भगिमा भी लक्ष्य मे है।

सम्पत सेठ की तन्द्रा टूटी हो अथवा नहीं, हमे कुछ लेना-देना नही, किन्तु हमारे मानस मे आध्यात्मिक क्रान्ति का बीजांकुर जरूर प्रस्फुटित हो रहा है।

आपकी पैनी मार्मिक लेखनी ने आर्त, रौद्र और धरम-ध्यान का पोस्टमार्टम करके ग्रन्थी-भेद कर दिया है, एतदर्थ मै आपका हृदय से आभारी हूँ।

- नेमीचन्द जैन छतरपुर (म.प्र.)

बे-सब्री से इन्तजार है

मैं जैनपथ मे धारावाहिक उपन्यास 'इन भावों का फल क्या होगा' नियमित पढ रहा हूँ। यह अत्यन्त रोचक, ज्ञान मे निखार लाने वाला और जिज्ञासोत्पादक है।

मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं इसे एक साथ आद्योपांत पढूँ। यह इच्छा कब पूर्ण होगी, इसका बे-सब्री से इन्तजार है।

- देवेन्द्र कुमार जैन, लिधौरा (टीकमगढ़)

धर्मामृत बूटी

जैनपथप्रदर्शक मे प्रकाशित धारावाहिक उपन्यास 'इन भावों का फल क्या होगा' पढ़कर भारी प्रसन्नता होती है। आपके द्वारा यह धर्मामृत की बूटी पाकर मेरा तो जीवन ही सार्थक हो गया।

- सौ. चन्दा अभय कुमार ढड़ैया ललितपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

४,००१ रु देने वाले – पर्यूषण पर्व के अवसर पर – अध्यक्ष, श्री दिग जैन मुमुक्षु मडल, शिकोहाबाद।

१,००१ रु देने वाले – प्रसन्नकुमार अक्षयकुमार, कानपुर • श्री भैरोदान कन्हैयालालजी दुग्गड, सरदारशहर • श्रीमती मजू लोढा ध प श्री गणपतसिह लोढा, कनाडा।

६०१ रु देने वाले – श्री चिरजीलालजी जैन (अलवर प्रकाशन), जयपुर।

५०१ रु देने वाले – श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिटर्स, जयपुर • श्री इन्द्रसेनजी जैन, दिल्ली • श्री राजाराम रिखबदास जैन, फिरोजाबाद • श्री घीसालालजी सीकर वाले, जयपुर • श्री राजुभाई, कानपुर • श्री उम्मेदमलजी बडजात्या, बम्बई • बसन्तीदेवी हरकचन्दजी छाबडा, सीकर • श्री विमलचन्दजी जैन (नीरू केमिकल्स) दिल्ली • मा रोमित जैन पुत्र श्री निकलक जैन, जयपुर • श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, कानपुर • श्री दीपेश शाह (इलैक्ट्रो मीडिया), जयपुर • श्रीमती प्रभा ध प श्री अजित जैन, जयपुर • श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर • गगाबाई किसलवास, ललितपुर।

३०० रु देने वाले – श्री प्रेमकुमारजी जैन, जयपुर।

२५१ रु देने वाले – श्री प्रो कृष्णाराव ए गोसावी, औरगाबाद • श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, खतौली • श्रीमती कान्ताबाई श्री पूनमचन्दजी छाबडा, इन्दौर • ब्र हीरालाल खुशालचन्द दोशी, माडुवे • ब्र श्रीचन्द सुन्दरलालजी जैन, सोनगढ • श्री विनयपक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई • श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज • श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपत सिटी • श्री मागीलाल अर्जुनलालजी छाबडा, इन्दौर • श्री नटवरलाल केशवलाल शाह, जलगाँव।

२०१ रु देने वाले – पानादेवी मोहनलालजी सेठ, गौहाटी • इन्द्रमणि देवी स्व आनन्दीलालजी, रामगढ केट • श्री फूलचन्द विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन • स्व उमरावदेवी जगनमलजी सेठी, इम्फाल • श्री कपूरचन्दजी जैन, जयपुर • श्रीमती सुशीलाबाई श्री जवाहरलालजी, विदिशा • राजकुमारी गोधा श्री कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर • श्रीमती प्रेमचन्दजी बडजात्या, दिल्ली • फूलचन्दजी गोयल, भोपाल • सतोषकुमार सज्जनलाल जलगाव।

१५१ रु देने वाले – दयाबाई, अकोला • शुद्धमतिबाई, हिगोली • कमला देवी, जयपुर • जयन्तीभाई दोशी, बम्बई • चौधरी फूलचन्दजी मनोज एण्ड क , बम्बई • श्री अशोक कुमार वेलोकर, जलगाव • बसतलाल चुन्नीलाल शाह, जलगाव।

१०१ रु देने वाले – विमला गगवाल, उज्जैन • कान्ताबाई सोगानी, कलकत्ता • लीलाबाई बडजात्या, मुजफ्फरनगर • रतनमालाबाई, इन्दौर • सुनेना सारिका गगवाल • कलावती, असेगाव • सुनीलकुमार, कानपुर • नन्हीबाई जैन, शान्तिबाई, बानपुर • मोहनलाल, बानपुर • विमला टडैया, ललितपुर • पुष्पादेवी विरधी • चिरोंजाबाई, सरोज जैन, डोगागढ • दयाबाई, ललितपुर • बाबूलाल दिवाकर ललितपुर • सुषमा, अहमदाबाद • कस्तूरीबाई, चिरगाव • कमलाबाई किसलवास।

१०३५ रु अतिशय क्षेत्र सेरोनजी (ललितपुर) मे विधान में खुदरा प्राप्त।

कुल योग २३,२४८ रु.

१

एक बारह वर्षीय बालक धर्मेश जब अपनी नियमित दिनचर्या के अनुसार यथासमय धुली हुई धवल धोती पहने और केसरिया उत्तरीय ओढ़े, बगल में पूजन की पुस्तक दबाये, छोटी सी थाली में अष्टद्रव्य संजोये, थिरकते होंठों से 'दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारी-' स्तोत्र गुनगुनाता जिनमन्दिर जाता था तो उसके पिता फूले नहीं समाते थे।

अडौसी-पड़ौसी और मुहल्ले वाले भी उस मनमोहक किशोर के चित्ताकर्षक बाह्य व्यक्तित्व को स्नेह भरी दृष्टि से देख मन ही मन हर्षित तो होते ही, हाथ जोड़कर 'भगतजी जयजिनेन्द्र ! पण्डितजी पायलागन' कह-कहकर अपना और अपने साथियो का मनोरंजन भी करते।

धर्मेश भी नि.संकोच भाव से मन ही मन मुस्कुराता और एक क्षण ठिठक कर महात्मा बुद्ध जैसी आशीर्वाद मुद्रा में हाथ ऊँचा करके उनके अभिवादन का मौन उत्तर देता हुआ आगे बढ़ जाता। मानो उसने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया हो।

यह एक दिन की बात नहीं, बल्कि उसकी दैनिक-चर्या का अभिन्न अंग बन गया था, जिसे वह पिछले पांच वर्ष से बराबर निभा रहा था।

इस युवावस्था मे भी धर्मेश की इस धार्मिक प्रवृत्ति को देखकर लोग उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते। एक दिन गाँव की मुख्य बैठक में उसकी बात चल पड़ी। एक समझदार सा लगने वाला व्यक्ति बोला -

"वह भव्यजीव पिछले जन्म का कोई महान् आत्मा होगा, जो इस जन्म मे ऐसे धार्मिक संस्कार लेकर आया है। अभी उम्र ही क्या है, फिर भी कितना गंभीर व्यक्तित्व दिखाई देता है। इन लक्षणों से तो ऐसा लगता है कि वह बड़ा होकर जरूर कोई ज्ञानी-ध्यानी बड़ा व्यक्ति बनेगा।"

दूसरा वृद्ध बोला - "अरे भाई । भले ही यह भव्यजीव उम्र से छोटा है; पर इसका आत्मा तो अनादि का है न ? पिछले जन्म का संस्कारी तो लगता ही है, इस जन्म मे भी इसको इसके पिता से धार्मिक संस्कार मिले हैं।

शायद आपको पता नहीं, इसके पिता भी इसी की तरह बचपन से ही पूरे भगतजी हैं भगतजी ! वे भी कुछ दिन पहले तक प्रतिदिन पूजा-पाठ किया करते थे। पाँच वर्ष की उम्र से, जबसे उन्होने इसकी स्कूल में पट्टी-पूजा कराई, तब से वे इसे भी प्रतिदिन अपने साथ पूजन करने को मन्दिर ले जाया करते थे। अब तो वे बेचारे पारिवारिक प्रतिकूलताओ मे ऐसे उलझ गये कि कुछ मत पूछो। उनका सब धर्म-कर्म एक तरफ धरा रह गया। बेचारे को उद्यापन कराके पूजा-पाठ से भी छुट्टी लेनी पडी।

यद्यपि उन्हे धर्म का ज्ञान तो विशेष नहीं था, पर भावना बहुत ऊँची थी। उनका मानना था कि धर्म आचरण से ही मनुष्य जीवन और पशु जीवन मे अन्तर देखा जा सकता है, अन्यथा आहार, निद्रा, भय व मैथुन तो पशु और मनुष्य मे समान ही होते हैं। धर्म की महिमा गाते हुये वे बडे गर्व से कहा करते -

धरम करत ससार सुख, धरम करत निर्वाण ।
धरमपन्थ साधे बिना, नर तिर्यंच समान ॥

बस, इसी मान्यता से वे श्रावक के षट् आवश्यक कर्त्तव्यो का पालन करना अपना धर्म मानते थे और यही प्रेरणा वे अपने पुत्र धर्मेश को दिया करते थे। मौके-मौके पर वे आगन्तुक अतिथि विद्वानो के प्रवचन सुनने से भी नही चूकते। भले ही समझ मे आये अथवा न आये, पर सुनते अवश्य थे।

वे कहा करते - अरे भाई । जितनी देर प्रवचन में बैठे रहते हैं, उतनी देर तक पाप प्रवृत्ति से तो बचे ही रहते हैं। विषय जितना जो पल्ले पड़ा, वही ठीक।

इसी विचार से वे जीवनभर धर्म आचरण करते रहे। पर पत्नी के पक्षाघात से पीड़ित हो जाने के कारण वे पारिवारिक प्रतिकूल परिस्थितियों में ऐसे उलझे कि प्रतिदिन पूजा-पाठ तो दूर, अब तो उन्हें समय पर देवदर्शन भी दुर्लभ हो

गये हैं। पर पिता की प्रेरणा से और पड़ौसियों की प्रशंसा से प्रोत्साहन पाकर धर्मेश पिछले ७-८ वर्ष से प्रतिदिन पूजा-पाठ करने के नियम का निर्वाह दृढ़ता से करता आ रहा है।"

उसकी बात समाप्त भी न हो पायी थी कि धर्मेश का साथी एक युवक बोला - "आपका कहना तो सही है, पर शायद आपको यह पता नहीं है कि आजकल उसमें वैसा उत्साह नजर नहीं आता जैसा पहले रहा करता था। आजकल वह प्रायः विचारों मे डूबा रहता है।"

वस्तुत· बात यह थी कि धर्मेश की ज्यों-ज्यों समझ बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसे अपनी अज्ञानता का आभास होने लगा। इसी कारण उसके मन में पूजन सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठने लगे थे।

जिस क्रियाकाण्ड को वह अब तक धर्म मानकर करता आ रहा था; उसके सम्बन्ध मे उसके चित्त मे अनेक प्रश्न खड़े होने लगे थे।

वह सोचता - किसान खेत में बीज बोता है तो उसे अधिकतम छह माह मे कई गुना अनाज प्राप्त हो जाता है, माली बगीचे मे वृक्ष व लताये लगाता है तो उसे भी उनसे दो-चार वर्ष मे सुगधित पुष्प और सुमधुर फल मिलने लगते है, पर मैं तो पाँच वर्ष की उम्र से, पिछले पन्द्रह बर्षों से धर्म-ध्यान की खेती कर रहा हूँ, पूजा-भक्ति के जल से उसे सींच रहा हूँ, सदाचार रूपी रखवालो से उसकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था भी कर रखी है, परंतु प्रशसा, प्रोत्साहन और पुरस्कार के घास-फूस के सिवाय सच्ची समता, शान्ति और निराकुल सुखस्वरूप धर्मवृक्ष का अंकुर भी तो नहीं उगा। धर्म का फल तो समता, शान्ति, निराकुलता ही है न ? इस दृष्टि से तो मेरे जीवन की जमीन बंजर ही दिखाई देती है। मेरे पिताश्री ने भी जीवनभर पूजा की, पर उनकी परिणति में तथा पारिवारिक परिस्थितियों में भी कोई अनुकूलता दिखाई नहीं दे रही है; जबकि उन्हीं के कहे अनुसार धर्म का फल तो तत्काल मिलता है; उन्हें भी कुछ भी हाथ नहीं लगा। पर यह सब क्यों हुआ ? कैसे हुआ ?

धर्मेश के मन को एक प्रश्न यह भी कचोटता रहता है कि जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार जब भगवान वीतरागी होने के कारण पूजक और निन्दक पर तुष्ट-रुष्ट होकर किसी का भला-बुरा करते ही नहीं हैं, राग-द्वेष रहित होने से किसी को कुछ देते-लेते भी नहीं हैं; तो फिर उनकी पूजन-अर्चन करने का प्रयोजन ही क्या रह जाता है ?

न तो पूज्य परमात्मा को ही भक्तों की भक्ति-पूजा से कोई प्रयोजन है और न पूजक को ही उनसे कुछ मिलता है, तो ऐसी पूजा से क्या लाभ ?

इनके सिवाय और भी अनेक छोटे-मोटे प्रश्न धर्मेश के चित्त को आन्दोलित करते रहते थे। जैसे कि -

जब सिद्ध भगवान हमारे आह्वान पर लोकान्त से यहाँ आते ही नही है तो फिर उनका आह्वानन, स्थापन एव सान्निधिकरण हम क्यो करते है ?

जब पूज्य परमात्मा सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं, हमारे मन मे स्थित सब बातो को, हमारी भक्ति-भावना को मनोगत कामनाओ को भी भली-भाँति जानते ही हैं, तो फिर उनके सामने अपने दु.ख-दर्द कहने और उनके गुणगान करने का क्या औचित्य रह जाता है?

जब वे पूर्ण अस्नान व्रत लेकर मुनि हुए और पूर्ण पवित्र होकर मोक्ष पधारे तो उनके अभिषेक की भी क्या उपयोगिता है ?

जब वे भूख-प्यास आदि सभी दोषो से रहित हैं, तो नाना प्रकार के नैवेद्य से उन्हें क्या प्रयोजन ? फिर अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा क्यों ?

जब हमारे आह्वान पर भगवान आये ही नही, जहाँ कुछ सर्जन ही नही हुआ हो, वहाँ विसर्जन कैसा ?

- ऐसे एक-दो नहीं, अनेक प्रश्न उसके मन में उठते हैं, जिनका समाधान उसे नहीं मिलता।

ये अकेले एक धर्मेश की ही समस्यायें नहीं थीं, आज धर्मेश जैसे न जाने कितने नवयुवकों के मन में ये ज्वलन्त प्रश्न उठते होंगे, जिन्हें वे विविध कारणों

वश व्यक्त नहीं कर पाते। अनेक व्यक्तियों में तो अपने मन के भावों को वाणी से व्यक्त करने की योग्यता ही नहीं होती। जिनमें योग्यता होती भी है, उनमें ऐसी हिम्मत नहीं होती कि वे अपने बुजुर्गों के सामने प्रचलित धार्मिक रीति-रिवाजों पर प्रश्नचिन्ह लगा सकें।

यदि कदाचित् कोई साहस जुटा भी ले तो प्रथम तो उसे आतंकित करके चुप ही कर दिया जाता है। यदि कोई अधिक ही अड़ियल या मुँहबोला हुआ तो उसे नास्तिक है, मूर्ख है, धर्म मे कुछ समझता तो है नहीं आदि कहकर उपेक्षित कर दिया जाता।

पर, धर्मेश के साथ ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि उसने औरो की भांति अश्रद्धापूर्वक तर्क-वितर्क नहीं किए, बल्कि उनके समाधान के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा और उसने पूजा-पाठ करना भी नहीं छोड़ा।

पूर्ववत् अपनी सब धार्मिक क्रियायें करते हुए उसने जिज्ञासा की भावना से अपनी शकाओ का समुचित समाधान पाने के लिए विशेषज्ञ विद्वानों से सम्पर्क साधने का निश्चय किया; क्योंकि वह जानता था कि भले ही अभी मेरी समझ मे नही आ रहा है, पर पूजन एवं व्रत-उपवास आदि धार्मिक क्रियाओ मे कोई विशेष रहस्य अवश्य है। इतनी प्रचलित और प्राचीन पूजनपद्धति और धर्म की क्रियाये सर्वथा निरर्थक नहीं हो सकतीं।

धर्मेश के तर्कसगत और विचारणीय प्रश्नो की भनक जब उसके पिता के कान मे पडी तो उनके मन मे यह भय समा गया कि इसकी ऐसी अश्रद्धा से कही कोई कुलदेवता नाराज न हो जाये। धर्मेश के पिता धर्मभीरु तो थे ही, मन ही मन अपने इष्टदेव को स्मरण कर प्रार्थना करने लगे -

''प्रभो ! अभी धर्मेश बीस-इक्कीस वर्ष का बच्चा ही तो है, अकल ही कितनी है उसमें अभी। अतः आप उसे नादान समझकर क्षमा कर देना। यह तो आप जानते ही हैं कि वह अश्रद्धालु नहीं है, उदण्ड और नास्तिक भी नहीं है; पर वह विचारशील बहुत है, एक-एक बात पर बहुत बारीकी से घंटों सोचता रहता है, जबतक उसे जँचे नहीं, तबतक किसी के कहने मात्र से

माननेवाला नहीं है। अत: उसकी शंकाओं का समाधान तो किसी तरह होना ही चाहिए; अन्यथा वह धर्म मार्ग से भटक भी सकता है।''

वे बेचारे यह नहीं समझते थे कि जिनदेव तो वीतरागी होने से किसी की प्रार्थना से प्रसन्न एव निन्दा से नाराज नही होते।

यह बात जुदी है कि जो उन वीतरागी देव के पवित्र गुणों का स्मरण करते है, उसका मलिन मन स्वत. निर्मल हो जाता है, उसके पापरूप परिणाम स्वत· पुण्य व पवित्रता में पलट जाते हैं। अशुभ भावों से बचना और मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा का, जिनेन्द्र भक्ति का सच्चा फल है।

ज्ञानी धर्मात्मा लौकिक फल की प्राप्ति के लिए पूजन-भक्ति नहीं करते। वे तो जिनेन्द्रदेव की मूर्ति के माध्यम से निज परमात्म स्वभाव को जानकर, पहिचानकर उसी में जम जाना, रम जाना चाहते हैं। ऐसी भावना से ही एक न एक दिन भक्त स्वय भगवान बन जाता हैं।

इस बात से धर्मेश के पिताश्री तो क्या, धर्मेश स्वय भी अनजान ही था।

उस समय धर्मेश भी यह नही जानता था कि - जिनेन्द्र भगवान न किसी का भला-बुरा करते है और न कर ही सकते हैं; क्योंकि जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है। इसके अनुसार कोई किसी के सुख-दु:ख का, लाभ-हानि का, जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता नहीं है।

धर्मेश अभी भी जैनदर्शन के इन सूक्ष्म सिद्धान्तो के बारे मे कुछ नहीं समझता। तत्त्वज्ञान के विषय को सुनने-समझने का उसे अभी अवसर ही कहाँ मिला, जिससे वह कुछ जान पाता ? उसके नगर मे न कोई वीतराग-विज्ञान पाठशाला थी और न नियमित स्वाध्याय की परम्परा ही। बस, पूजन-पाठ तक ही उसका धर्म-कर्म सीमित था। वह सीखता भी कहाँ से?

धर्मेश के मन में धीरे-धीरे धर्म का स्वरूप और उसके साधनों का औचित्य जानने की जिज्ञासा बढ़ती ही चली गई। एतदर्थ वह स्वतंत्र स्वाध्याय तो करने ही लगा, दूसरों के अनुभवों का लाभ लेने के प्रयास में भी रहता। पर वह पढ़ी-सुनी बातो को आँख मींच कर माननेवालों में नहीं था। उन पर मन ही मन खूब ऊहापोह करता। आवश्यकतानुसार नियमपूर्वक तत्त्वचर्चा, शंका-समाधान भी करता/कराता। परन्तु अभी तक उसे कहीं से भी कुछ भी सतोषजनक समाधान नही मिला। फिर भी उसने अपनी धार्मिक दिनचर्या पूर्ववत् चालू रखी और सही समाधान पाने के प्रयत्न भी चालू रखे। •

२
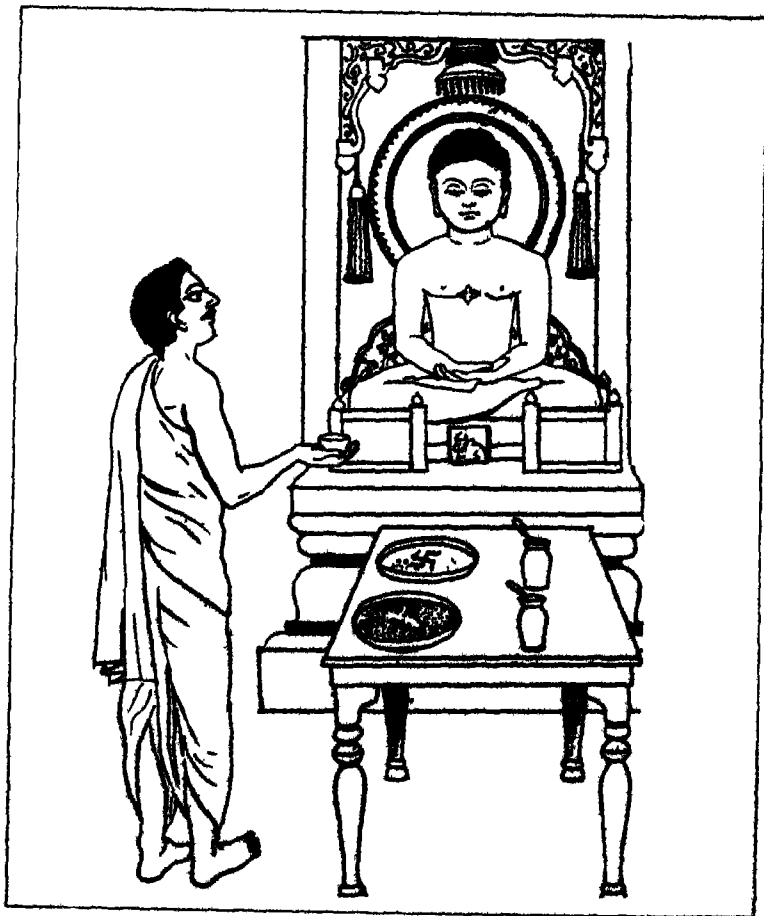
धर्मेश और अमित एक ही मौहल्ले के रहनेवाले थे। एक ही साथ खेले और मैट्रिक तक एक ही स्कूल मे साथ-साथ पढ़े थे। बचपन मे दोनो की दाँत-काटी रोटी थी। सयोग से दोनों की सस्कृति, धर्म व जाति भी एक ही थी। दोनो एक-दूसरे के लिए अपनी जान देते थे और एक-दूसरे का वियोग दोनो को बर्दाश्त नही था। पर न जाने क्यो ? किशोरवय मे कदम रखते-रखते दोनों की विचारधारा में पूरब-पश्चिम जैसा महान् अन्तर आ गया।

धर्मेश ने तो मैट्रिक के बाद पढना ही छोड दिया और अमित कॉलेज ऐजूकेशन में चला गया। अमित ने कॉलेज की पढ़ाई तो मन लगाकर पूरी कर ली, पर वह धीरे-धीरे भौतिकता की चकाचौध मे अधिक उलझ गया। इसकारण अब उसे धनार्जन करने के लिए चौबीस घटे भी कम पड़ने लगे।

धर्मेश न जाने किस मिट्टी का बना था। वह भौतिक वातावरण से अप्रभावित तो रहा ही, अपने पिता के कुलधर्म के प्रभाव से भी अछूता रहा। वह निष्पक्ष होकर निरन्तर सच्चे धर्म की तह तक पहुँचने के प्रयास मे लगा रहा।

धर्मेश के पिता न तेरापन्थी थे और न बीसपन्थी। उनका अपना अलग ही पन्थ था, जिसे कुलपथ कह सकते हैं। वे अपने कुलपंथ के प्रति कट्टर थे, उन्हे कोई जीवनभर उनके कुलपथ से हिला नहीं सका। उनका कहना था -

"फैशन के मामले में दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गई। पगड़ी गई, साफा आया; साफा गया, टोपी आई, टोपी भी गई, नगा सिर रह गया। नगे सिर वालों ने भी नित्य नये आकार बदले। कभी हिप्पीकट तो कभी सफाचट; पर सच्चे सिक्ख ने न पगड़ी छोड़ी और न जूड़ा छोडा। सच्चे मुसलमान ने भी लम्बी दाढ़ी और गोल टोपी नहीं छोड़ी। इसीतरह हमारे जैनकुल के भी कुछ सिद्धान्त

हैं, धर्म के कुछ नियम हैं। हम उन्हें क्यों छोड़ें ? धर्म तो सदैव क्षेत्र व काल के प्रभाव से अप्रभावित रहा है, अछूता रहा है।''

पिता के इन विचारों के संदर्भ में धर्मेश का यह कहना था कि दृढ़ता से धार्मिक नियमों का निर्वाह करना बहुत अच्छी बात है। इस अर्थ में कट्टरता बुरी बात नही है; पर वह कट्टरता सुपरीक्षित एवं सुविचारित होनी चाहिए; अन्यथा सुधार की संभावनायें सम्पूर्णत: क्षीण हो जायेंगी। बिना परीक्षा किये, बिना विचार किये किसी भी कुल परिपाटी को धर्म मानकर बैठ जाना और उससे टस से मस न होना - यह भी तो कोई धर्म का मार्ग नहीं है। पर ऐसे कट्टर पंथियों को कौन समझाये, जो किसी की कुछ सुनना ही नहीं चाहते, अपनी लीक से हटना ही नहीं चाहते ?

धर्मेश के पिता भी इन्हीं कट्टरपंथियो में एक थे, जिन्हें धर्म-कर्म में मीन-मेख करना बिल्कुल पसंद नहीं था। इस मामले में धर्मेश व उसके पिता कभी एकमत नहीं हो पाये, फिर भी धर्मेश ने पिता की मान-मर्यादा का कभी उल्लघन नहीं किया।

धर्मेश के पिता ने धर्मगुरुओ से यह सुन रखा था कि धर्म के मामले में मीन-मेख करने एव शंका-आशंका प्रगट करने से अनर्थ हो जाता है, पाप भी लगता है। इसकारण उनकी धारणा बन गई थी कि धर्म तो श्रद्धा-भक्ति का विषय है, उसमें तर्क-वितर्क करना ही क्यो ?

धर्मेश का पूरा परिवार धर्मभीरु था, इसकारण कुल परम्परागत लीक छोडकर चलना तो दूर, धर्म के बारे मे कुछ कहना-सुनना, पूछना-ताछना भी उनके बलबूते की बात नहीं थी। वे धर्म से अत्यधिक आतंकित थे। उन्हें डर लगता था कि उनका कोई व्यवहार देवी-देवताओं और भगवान की असंतुष्टि का कारण न बन जाये, उनके किसी व्यवहार से देवी-देवता नाराज न हो जायें। उनका इसप्रकार का धर्माचरण वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखनेवाले और हर बात को तर्क की कसौटी पर कसनेवाले धर्मेश को रास नहीं आया।

धर्मेश के पिता अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए बड़े गर्व से कहा करते ''तत्त्वों की बातें हमारी समझ में भले न आयें, पर हम धर्मकार्यों में कभी पीछे

नहीं रहे। हमने अपनी पीढ़ियों से चली आई धार्मिक परम्पराओं को कभी नहीं छोड़ा। यही कारण है कि भगवान की कृपा से आज हमारा खानदान सब तरह से सम्पन्न है, सदाचारी है, अन्यथा बर्बाद होने में देर ही क्या लगती है ? प्रभु की वक्रदृष्टि और एक-एक दुर्व्यसन पूरे परिवार को बर्बाद कर देता है।''

यद्यपि इस धर्मभीरुता के कारण उनके पूरे परिवार का जीवन सदाचारी रहा। यहाँ तक तो कोई बात नही, पर केवल इस कुलाचाररूप बाह्य धर्मप्रवृत्ति को ही धर्म मानकर जो वे मन ही मन सतुष्ट हो लेते और स्वय को धर्मात्मा मानकर प्रसन्नता का अनुभव करते, गौरवान्वित होते - यह बात धर्मेश की अन्तर्रात्मा को स्वीकृत नही होती। अतः उसने सकल्प किया कि वह पिताजी के विचारो से भी अप्रभावित रहकर धर्म की सच्चाई की तह तक पहुँचने का पूरा-पूरा प्रयास करेगा।

धर्मेश बिना सोचे-विचारे परम्परागत लीक पर चलने वालो मे नही था। लीक छोड़कर चलत है शायर सिह सपूत की उक्ति के अनुसार धर्मेश का यह सोचना उचित ही था।

वह सोचता था कि यद्यपि यह कुलाचाररूप व्यवहार धर्म का निर्वाह सदाचार के सस्कारों को सुरक्षित रखने के लिए ठीक है, परन्तु प्रत्येक कुल का, प्रत्येक जाति का धर्म अलग-अलग कैसे हो सकता है ? धर्म का स्वरूप तो एक ही होना चाहिए और वह भगवान कैसे हो सकता है, जो साधारणजन की भाँति ही राग-द्वेष के वशीभूत होकर भक्तो की जरा-जरासी बात पर रुष्ट-तुष्ट हो जाता है।

जब दो-चार रुपयो की मिट्टी की हाँडी भी ठोक बजाकर खरीदते हैं तो यह तो जन्म-जन्मान्तर के सुख-दुःख का सवाल है, अनन्त ससार सागर के दुःख से पार होने का प्रश्न है, इसे बिना परीक्षा किए, बिना सोचे-विचारे यो ही आँख मींचकर कैसे अपनाया जा सकता है ? यह मनुष्य जन्म और उसमें भी ऐसे सुन्दर सयोग कोई बार-बार थोड़े ही मिल जाते हैं। न जाने किस जन्म का पुण्य फला होगा, जो यह सुअवसर हाथ आ गया है। सचमुच यह अधे

के हाथ में बटेर आ गई है। इसका तो पूरा-पूरा लाभ उठाना ही होगा। क्या धरा है इस दुनियादारी के चक्कर में ?

धर्म से भय कैसा ? धर्मभीरुता ही तो व्यक्ति को धर्मान्ध बनाती है। अतः कोई कुछ भी क्यों न कहे ? एकबार तो शान्ति से ऊहापोह करके धर्म एवं पुण्य-पाप की तह तक पहुँचना ही होगा। धर्म के तलस्पर्शी ज्ञान बिना ऊपर-ऊपर से धर्मात्मा बने रहना अपने को अन्धकार में रखना है।

संभव है, सच्चाई को पहचानने में जाने-अनजाने में कभी हमारी किसी पीढी से भूल-चूक हो गई हो और हम उसी लकीर के फकीर बने रहे - यह भी तो कोई समझदारी नहीं है। वाह ! जितने कुल, जितनी जातियाँ, जितने व्यक्ति, उतने धर्म ? यह सब क्या है ? वे धर्मगुरु, जिन्होने पाप का डर दिखाकर अनर्थ होने की आशका से सबको आतकित कर रखा है, वे भी हम तुम जैसे ही इसी पृथ्वी के इन्सान हैं, जैसे जहाँ से उन्होंने धर्म खोजा, हम भी क्यो न वैसा ही प्रयास करके देखे ? वस्तुतः मेरा मन तो यही कहता है कि धर्म का आचरण तो सुपरीक्षित ही होना चाहिए।

अमित के माता-पिता पाश्चात्य वातावरण से पूर्णतः प्रभावित तो थे ही, उसी मे रच-पच भी गये थे। धर्म की बाते न उन्होने पहले कभी सुनी, न सुनने-समझने की कोशिश ही की।

चलचित्रो मे और लोक-जीवन मे भी धर्म के नाम पर धधा करनेवाले कतिपय ढोगी धर्मात्माओ के विकृत स्वरूप को देखकर उनकी रही-सही आस्था भी धर्म पर से उठ गई थी। अब उन्हे धर्म एक ढोग से अधिक कुछ नही लगता था। धर्म की बाते कल्पना लोक की कपोल कल्पित लगने लगीं थीं।

वे अपने को बहुत बुद्धिमान पढ़ा-लिखा इन्सान मानते थे, पर उनकी पैनी बुद्धि मे यह बात समझ में क्यो नहीं आती कि चलचित्रों में तो हर बात को बढा-चढ़ा कर ही प्रदर्शित किया जाता है और लोकजीवन में यदि कोई धर्म के नाम पर धोखाधड़ी करे तो इससे धर्म कपोलकल्पित कैसे हो गया? सभी धर्मात्मा ढोगी कैसे हो गये ?

चलचित्रों मे तो पुलिस और राजनेताओं को भी अधिकतर भ्रष्ट ही दिखाया जाता है, तो क्या उस आधार पर सभी पुलिस वालों और सभी राजनेताओं को अपराधी मानकर दण्डित किया जा सकता है ? पर इतना सोचने-समझने की उन्हे फुरसत ही न थी।

बस, कमाना-खाना और मनोरंजन करना। यही भोगप्रधान भौतिक जीवन था उनका। उनके इस वातावरण के प्रभाव से उनका बेटा अमित भी नहीं बच पाया। वह भी विषयानन्दी वातावरण मे रंग गया।

जहाँ एक ओर पूर्व पीढी द्वारा बोया गया विषयानन्दी वातावरण का विष बीज भोगोपभोग सामग्री का खाद-पानी पाकर अमित के जीवन में विषवृक्ष के रूप मे फलने-फूलने लगा, वहीं दूसरी ओर उसके साथी धर्मेश का जीवन अपने पूर्व पर्यायगत धार्मिक सुसस्कारो के कारण भौतिक आकर्षण और कुल धर्म की बाड़ो को तोडता हुआ निरंतर सत्य की शोध की ओर अग्रसर होता चला गया।

वस्तुत· संस्कारो के दो स्त्रोत होते है। एक पूर्व पर्याय से समागत और दूसरे माता-पिता कुटुम्ब-परिवार से। जिनके जीवन मे धार्मिक सस्कारो का सुयोग न पूर्वजन्म मे मिला हो और न माता-पिता से ही मिल रहा हो, उनके दुर्भाग्य की तो बात ही क्या करें ? उन्हे तो चारों ओर फैले भौतिकता के जाल मे फसना ही है, पर जिन्हे सौभाग्य से कभी न कभी, कही न कहीं से धार्मिक सस्कारो का सुयोग मिल जाता है, उनका जीवन सफल हो जाता है, धन्य हो जाता है।

यद्यपि अब धर्मेश और अमित की विचारधारा मे जमीन-आसमान का अन्तर था, तथापि उनकी मित्रता अभी भी उनके वैचारिक मतभेदो से अप्रभावित रही, अछूती रही। यही कारण था कि वे एक-दूसरे को सुधारना चाहते थे।

अमित सोचता - धर्मेश की होनहार ही खोटी है। बेचारा अशिक्षित तो रह ही गया। आज के युग में हाईस्कूल एजूकेशन भी कोई एजूकेशन है! हायर

एजूकेशन के सब साधन सुलभ थे; पर उसका मन आगे पढ़ने में लगा ही नहीं। अब बेचारा दुकान पर दिन-दिन भर गुम-सुम सा बैठा रहता है। न जाने क्या सोचता रहता है? न हंसना-खेलना, न नृत्य-गान देखना-सुनना।

आखिर ! कैसे कटेगी इसकी इतनी लंबी जिंदगी ? बेचारे का जीवन जीने का मजा ही किरकिरा हो गया।

कभी अच्छा सा मौका देखकर उससे बात करूँगा। देखता हूँ क्या हो सकता है ? बेचारा असमय में ही अधबूढ़ा हो चला है। हमउम्र होकर भी मुझ से दस-पन्द्रह वर्ष बड़ा दिखने लगा है। सच है, अधिक सोच-विचार व्यक्ति को असमय में ही बुजुर्ग बना देता है।

यद्यपि उसकी उम्र अभी कोई अधिक नहीं है; पच्चीस वर्ष की उम्र भी कोई उम्र है ? ये तो खेलने-खाने के दिन हैं; पर धर्म के चक्कर में पड़ जाने से उम्र के अनुपात से उसमे प्रौढता कुछ अधिक ही आ गई है। उसके चेहरे पर चिन्तन की झलक भी स्पष्ट दिखाई देने लगी है। माथे पर तीन सल तो पड़े ही रहते हैं। बाते भी वैरागियों जैसी करने लगा है। पेन्ट-सूट के स्थान पर कुर्ता-धोती और टोपी पहनने से भी वह बुजुर्ग-सा दिखने लगा है।

धर्मेश का ऐसा जीवन जीने का तरीका, जिसमें युवक अधबूढ़ा-सा लगने लगे, अमित को पसन्द नहीं था। अत: उस पर उसकी विपरीत प्रतिक्रिया हुई। वह सोचना लगा - धर्मेश की यह दशा देख मेरी तो यह पक्की धारणा बन गई कि यदि सदैव युवा रहना है तो -

मस्त रहो अपनी मस्ती मे, चाहे आग लगे इस बस्ती में ।

मन ही मन इन्हीं विचारों में डूबे अमित को नींद आ गई, और वह गहरी नींद मे सो गया। ●

३

अज्ञानी होना उतना हानिकारक नहीं है, जितना हानिकारक है अपने अज्ञान का ज्ञान न होना, अपने अज्ञान को स्वीकार न करना। धर्मेश मे यह दोष नहीं था। उसे धर्म का ज्ञान तो नही था, पर अपने धर्म सम्बन्धी अज्ञान का ज्ञान बराबर था। वह अपनी इस कमी को निरन्तर महसूस भी करता था। एतदर्थ जो भी सभव साधन होते, उन्हे जुटाने मे भी वह कोई कोर-कसर शेष नही छोडता।

कहते हैं कि जब स्वय की तैयारी होती है तो साधनो की भी कमी नही रहती। इसे ही शास्त्रीय शब्दो मे ऐसा कहते हैं कि **जब अपने उपादान की तैयारी होती है तो निमित्त कारण तो आसमान से उतर आते है।** देखो न! भगवान महावीर स्वामी के दस भव पूर्व सिह की पर्याय मे जब उपादान मे सम्यग्दर्शन होने की तैयारी हो गई थी तो उपदेश के निमित्त के रूप मे संजय और विजय नाम के मुनिराज जगल मे आसमान से उतरकर आ ही गये थे।

धर्मेश के साथ भी यही हुआ। एक वयोवृद्ध बहुश्रुत विद्वान् पण्डित जिनेशजी कही जा रहे थ कि धर्मेश के नगर के निकट ही उनकी गाड़ी खराब हो गई। उन्हे वहाँ रुकना पडा। धर्मेश एव नगरवासियो के निवेदन पर पण्डित जिनेशजी के प्रवचन का लाभ तो समाज को मिला ही, धर्मेश ने भी अपन मन मे बहुत दिनो से सजोये प्रश्न भी उनसे पूछ ही लिये।

धर्मेश के जिज्ञासा भरे प्रश्नो को सुनकर पण्डितजी ने भारी प्रसन्नता प्रगट की।

धर्मेश का प्रथम प्रश्न था - मैं नियमित पूजा करता हूँ तथा मेरे पिताजी ने भी जीवन भर पूजन की है, पर उसका परिणाम सामने क्यो नही आया ?

धर्मेश के प्रश्न के उत्तर मे पण्डित जिनेशजी ने कहा - "यह सच है कि इतने दिन देव पूजन करने का जो फल तुम्हे मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला।

यह भी सच हो सकता है कि तुम्हारे पिताजी भी जीवनभर पूजन-पाठ करते रहे, फिर भी उनकी परिणति मे कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता। वे भी कोरे के कोरे रह गये हैं, पर तुम्हारा यह सोचना सही नहीं है कि पूजा का कुछ भी परिणाम नहीं निकला।

अच्छा ! तुम ही बताओ ! यदि तुम बचपन से पूजा-पाठ नही कर रहे होते तो क्या तुम्हारे मन में पूजन के सम्बन्ध में ये प्रश्न उठते, जो अभी उठ रहे हैं ? क्या यह जिज्ञासा का जगना कोई उपलब्धि नहीं है ? जो उपलब्ध नहीं हो सका, उसमे भी पूजा पद्धति का कोई दोष नहीं है। वह तो हमारी ही कही कोई मूल मे भूल रही है, जिससे तुम्हें अभूतपूर्व उपलब्धि नहीं हुई। चलो कोई बात नही, कम से कम आत्मनिरीक्षण का अवसर तो मिला। यह भी तो सुपरिणाम ही है न।

भाई ! वैसे तो राजमार्ग भी यही है। जब मूलभूत वस्तु का कुछ ज्ञान ही नही था तो ऐसी स्थिति मे यदि यह नहीं करते तो और करते भी क्या ?

यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण मे नहीं आये होते तो किसी अन्य अदेव-कुदेव की शरण मे पड़े होते। अथवा किसी और पारिवारिक गोरख-धधे मे उलझे होते। निश्चित ही किसी न किसी पापप्रवृत्ति मे ही पड़े होते, कोई न कोई विकथा ही करते होते। जितना समय पूजा-पाठ में गया, उतनी देर विषय-कषाय से तो बचे ही रहे न ! हानि क्या हुई ? अत: इसे सर्वथा निरर्थक तो नहीं कह सकते, **पर असीमित समय तक इसी में अटके रहना, इसी को धर्म मानकर सतुष्ट हो जाना ठीक नहीं है; क्योंकि यह सुअवसर बारबार नहीं मिलता।** समुद्र में फैके मणी की भाँति ऐसे सुअवसरो की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, जिसमे सत्य की शोध-खोज की जा सकती है।

इस दृष्टि से तुम्हारा यह सोचना सच है कि अज्ञान दशा मे की गई भावशून्य क्रियाये पूर्ण फलदायक नहीं होती।

कविवर बनारसीदास ने कहा भी है -

जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहे, जो बिन क्रिया मोक्ष पद चाहे।
जो बिन मोक्ष कहे मैं सुखिया, सो अजान मूढ़न में मुखिया॥

जो बिना आत्मज्ञान के धार्मिक क्रियायें करते हैं, जो बिना क्रिया किये मोक्षपद चाहते हैं, जो बिना मुक्त हुए अपने को सुखी मानते है, वे सचमुच मूर्खों के सरदार हैं। अतः धर्म का यथार्थ ज्ञान तो होना ही चाहिये।"

धर्मेश ने हार्दिक प्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा - "मेरी समझ में यह तो आ गया कि प्रतिदिन परमात्मा की पूजा करना सर्वथा निरर्थक नहीं है। विकथा आदि पापभावो से तो बचे ही रहते हैं, तथा जो काम करते हैं, उसके बारे मे विशेष जानने की जिज्ञासा भी जगती ही है। नि.संदेह इतना लाभ तो मुझे भी हुआ ही है। पर बात यह है कि - "जो वीतराग भगवान भक्ति से प्रसन्न ही नही होते, जिन्हे भक्तो की पूजा से कोई प्रयोजन ही नही है तथा जो भक्तो की कोई सहायता ही नही करते, उनकी भक्ति करना तो भैस के आगे बीन बजाना ही हुआ न। उनकी भक्ति-पूजा से क्या लाभ ? हम अन्य दर्शनों मे मान्य उन्हीं देवी-देवताओ की पूजा क्यो न करें, जो भक्तो के वश होकर दौड़े-दौड़े चले आते हैं, मौके-मौके पर उनकी मदद भी करते हैं, भक्तो के दुःख दूर कर देते हैं, भक्तो के हृदयसे निकली पुकार से जिनका सिहासन तत्काल डोल जाता है ?"

पण्डित जिनेशजी ने समझाया - "भाई ! सचमुच तो जगत मे ऐसा कोई ईश्वर है ही नहीं, जो किसी के दुःख दूर कर सुखी कर सके। तथा प्रायः सभी दर्शनों के अनुसार ससार में जो भी सुख-दुःख होता है, वह सब अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार होता है।

सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर में आस्था रखनेवाले दर्शनों मे भी ऐसे अनेक पौराणिक आख्यान हैं, जहाँ ईश्वरीय शक्तियाँ भी विफल होती देखीं गईं। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास की यह पंक्ति ही तुम्हारे समाधान के लिए पर्याप्त होगी-

कर्मप्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।

इस सन्दर्भ में जैनाचार्य अमितगति के सामायिक पाठ का हिन्दी अनुवाद भी दृष्टव्य है -

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किये निष्फल होते ॥

दौड़े-दौड़े चले आने वाले देवी-देवता भी पुण्य के प्रताप से ही आते हैं। पापियों की मदद तो देवता भी नहीं करते।

मुनिराज ऋषभदेव को ही देखो न ! उनके गर्भ, जन्म व तप कल्याणक मनानेवाले इन्द्र उस समय मदद करने नहीं आये, जब वे छह महीने तक प्रतिदिन आहार को निकलते रहे और दातारों को आहार की विधि ज्ञात न होने के कारण निराहर लौटते रहे।

इसी से सिद्ध है कि कोई किसी की मदद नहीं करता, न कर सकता है।

गीता जैसे प्रसिद्ध हिन्दू ग्रन्थ में भी निष्कामभक्ति करने का ही संदेश दिया है। अतः पूजा-भक्ति किसी को प्रसन्न करने और लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए नहीं की जाती और करना भी नहीं चाहिए।"

पण्डित जिनेशजी ने आगे कहा - "जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान भक्तो की करुण पुकार सुनकर दौडे-दौडे चले आते हैं, वे भ्रम में हैं। सचमुच वे भगवान को पहचानते ही नहीं हैं। अरे भाई ! भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तो होते ही हैं, वे वीतराग भी होते है।

भोले भक्तों की मान्यतानुसार भगवान सचमुच ही करुणा करके अपराधियो को क्षमादान करने लगे तो फिर आप ही सोचो - ऐसी स्थिति में अपराधों की प्रवृत्ति बढ़ेगी या घटेगी ?"

एक समझदार श्रोता ने कहा - "इस तरह तो निःसंदेह अपराधो की और पापों की प्रवृत्ति बढ़ेगी ही, क्योंकि अपराधों और पापो पर जो थोड़ी-बहुत रोक परलोक मे नरक-निगोद के दुःखो के भय से और इस भव में राजदण्ड के भय से रहती है, वह भी समाप्त हो जायेगी।

इस मान्यता से मन्दिरों मे लम्बी लाइनें अवश्य लग जायेंगी, पर पाप और अपराध तो बढ़ेंगे ही; क्योंकि पापों को माफ कराने का सरल उपाय जो मिल गया है।

आज तो लोगो की यह हालत है कि दिन-रात मिथ्यात्व व कषायो वश घोर पाप करते रहते हैं, आर्त-रौद्र ध्यानों मे आकंठ निमग्न रहते हैं। साथ ही प्रतिदिन सुबह-शाम जिनमन्दिर में बडे गर्व के साथ भगवान के सामने हाथ फैलाकर सुरीले स्वर मे हाव-भाव के साथ आलोचना पाठ पढ़ा करते हैं - मानो बहुत बहादुरी के काम करके आये हों और भगवान को अपनी गौरव गाथा सुना रहे हों।"

पण्डितजी ने उसकी बात को स्पष्ट करते हुए कहा - "भाई, तुम्हारा सोचना एकदम सही है - इस सन्दर्भ मे कविवर जौहरी कृत आलोचना पाठ की एक-एक पक्ति ध्यान देने योग्य है। उदाहरणार्थ कुछ पद्य इसप्रकार है -

विपरीत एकात विनयके, सशय अज्ञान कुनयके ।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहि जात कहीने ॥

कुगुरुनकी सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी ।
याविधि मिथ्यात बढायो, चहुँगति मधि दोष उपायो ॥

हिसा पुनि झूठ जु चोरी, पर-वनितासों दृग जोरी ।
आरम्भ परिग्रह भीने, पन पाप जु या विधि कीने ॥

सपरस रसना घ्रानन को, चखु कौन विषय सेवन को ।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय-अन्याय न जाने ॥

फल पच उदबर खाये, मधु मास मद्य चित चाहे ।
नहि अष्ट मूलगुण धारे, सेये कु-व्यसन दुःखकारे ॥

दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निस-दिन भुजाये ।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यो-त्यो करि उदर भरायो ॥

निद्रावश शयन करायो सुपने मधि दोष लगायो ।
फिर जागि विषय-वन धायो, नानाविध विष-फल खायो ॥

अहार-विहार-निहारा, इनमे नहिं जतन विचारा ।
बिनदेखा धरा उठाया, बिन शोधा भोजन खाया ॥

तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप उपजायो ।
कछु सुधि-बुधि नाहिं रही है, मिथ्या मति छाय गयी है ।

हा! हा!! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी ।
थावर की जतन न कीनी, उरमें करुणा नहीं लीनी ।

पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागा चिनाई ।
पुनि बिन गाल्यो जल ढोल्यो, पंखातैं पवन विलोल्यो ॥

हा! हा!! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी ।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनदा ॥

हा! हा!! परमाद बसाई, बिन देखे अग्नि जलाई ।
ता मधि जीव जु आये, ते हू परलोक सिधाये ॥

बीध्यो अन्न रात्रि पिसायो, ईंधन बिनसोधि जलायो ।
झाडू ले जागा बुहारी, चिटी आदिक जीव बिदारी ॥

जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी ।
नहि जलथानक पहुँचाई, किरिया बिन पाप उपाई ॥

जल मल-मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहु घात करायो ।
नदियन विच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये ॥

अन्नादिक शोध कराई, तामै जु जीव निसराई ।
तिनका नहि जतन कराया, गलियारै धूप डराया ॥

पुनि द्रव्य कमावन काजै, बहु आरंभ हिंसा साजै ।
किये अघ तिसनावश भारी, करुणा नहिं रच विचारी ॥

इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्रीभगवंता ।
संतति चिरकाल उपाई, बानी तैं कही न जाई ॥

इस तरह जो हल्फिया बयान हमने भगवान के सामने दिये हैं, यदि यही बयान न्यायालय में न्यायाधीश के सामने दिये होते तो कभी के सींखचों के अन्दर होते।

अन्याय तो प्रकृति मे भी नही है, तभी तो हम ससार की जेल में ही हैं। तथा पापों का फल भोगे बिना तथा अपराधवृत्ति छोड़े बिना इस दुःख से छुटकारा पाने का अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

हमे यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि हम पाप करते रहेगे और आलोचना पाठ पढ़ने से भगवान् क्षमा प्रदान करते रहेगे।

प्रतिक्रमण, प्रायश्चित व आलोचना तो इसलिए किए जाते हैं कि हम अपने दोषो और अपराधो को स्वीकार कर उनकी पुनरावृत्ति न करें। जब तक पुनरावृत्ति होती रहेगी तब तक मात्र आलोचना आदि पाठो के पढने से प्रयोजन की पूर्ति होना सम्भव नही है।

जो लोग प्रतिदिन स्तुति पाठ आदि करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं और समझ लेते है कि हमारे सब पापो का प्रक्षालन हो गया है, वे भ्रम मे हैं। उनकी पापमय प्रवृत्ति जहाँ की तहाँ है, बिल्कुल भी नही घट रही है। अतः यही मानना ठीक है कि जो भी पाप या अपराध हमने किये है या कर रहे हैं, उन्हे कोई ईश्वरीय शक्ति या भगवान माफ नही कर सकते। उनका फल तो हमे भोगना ही होगा।

माखनलाल चतुर्वेदी ने ऐसे ही भोले भक्तो और उनके भगवान पर व्यग्य करते हुए ठीक ही कहा है -

हे भगवन ! तू क्या कर सकता है इन्साफ ।
अरे ! प्रार्थना की रिश्वत पर कर देता है माफ ॥

अत केवल वीतरागदेव ही आराध्य है, भले वे कुछ नही करते, पर उनके पवित्र गुणो का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है। मन का निर्मल हो जाना ही जिनदेव की पूजाभक्ति का सच्चा फल है।"

धर्मेश ने अगला प्रश्न किया - "जब जैनदर्शन के अनुसार भावो से ही पुण्य-पाप का बन्ध होता है और भावो से ही बध-मोक्ष होता है तो पूजापद्धति मे भी भावपूजा को ही महत्त्व मिलना चाहिए। द्रव्यपूजा को इतना महत्व क्यो दिया गया ?

भव्य जिनमंदिर, विशाल जिनबिम्ब, एक-दो नहीं आठ-आठ द्रव्य, वे भी भर-भर थाल, नाच-गान, झांझ-मंजीरा, ताल-मृदंग - इन सबकी क्या आवश्यकता है ? वीतरागी भगवान को तो इन सबसे कुछ प्रयोजन है ही नहीं। सर्वज्ञ होने से वे भक्तो के भावों को भी भली-भाँति जानते ही हैं, फिर यह आडम्बर क्यो किया जाता है ?"

पण्डितजी ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा - "यह सब आडम्बर भगवान के लिए नहीं, बल्कि हम-तुम जैसे चंचल चित्त वाले भक्तों के लिए करना पड़ता है। इनके बिना हमारा मन-मर्कट किसी एक स्थान पर टिकता ही नहीं है। हमारा चचल चित्त वनवासी बन्दरो की भाँति विषयवृक्षों के विषफल खाने के लिए उछल-कूद करता ही रहता है। उसे वहाँ से हटाने और शुभभावों मे टिकाने के लिए ये सब साधन के रूप मे स्वीकार किए गये हैं।

जिस तरह बच्चो के मन को रमाने के लिए नाना प्रकार के नये-नये खिलौनो का आलम्बन आवश्यक है, वैसे ही भक्ति में मन को रमाने के लिए ये विविध आलम्बन है। आँखों का आलम्बन परम शान्त मुद्रायुक्त जिनबिम्ब दर्शन, वाणी का आलम्बन पूजन के पद्यपाठ, मन का आलम्बन पूजन का अर्थविचार तथा उपयोग इधर-उधर भ्रष्ट न हो, इसीलिए गीत-सगीत आदि साधनो का उपयोग किया जाता है। ज्यो-ज्यो स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यो ये सब साधन कम होते जाते हैं। पूजन की पक्ति मे भी आता है न !
'आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्, भूतार्थयज्ञ पुरुषस्य करोमियज्ञम्।

हे भगवान ! इन विविध आलम्बनो का आलम्बन लेकर मैं आपकी पूजा करता हूँ।'

मुनिराजो द्वारा मन व इन्द्रियाँ जीत लीं जातीं हैं, इसकारण उनको द्रव्य-पूजा आवश्यक नहीं रहती। इसी से स्पष्ट है कि इस विविध सामग्री की गृहस्थों को क्या आवश्यकता व उपयोगिता है।

पर ध्यान रहे, वीतरागी अहिसा प्रधान धर्म में आलम्बन भी पवित्र और अहिंसक ही होते हैं। अत: हमारी प्रत्येक धार्मिक क्रिया अहिंसक होनी चाहिए।

जिसे जिनेन्द्र भगवान के वीतराग-विज्ञानमय स्वरूप की खबर ही न हो, जिसे उनके सर्वज्ञता और वीतरागता जैसे अनुपम गुणो पर श्रद्धा ही न हो, जो जिनेन्द्र भगवान को भक्तो का भला करनेवाला और दुष्टों को दण्ड देनेवाला मानता हो, जो उन्हे अधम उधारक, पतितपावन, दीनदयाल मानता हो, उसके हृदय मे उनके वीतरागी स्वभाव की महिमा कहाँ से आयेगी? उनके वीतरागी व्यक्तित्व के प्रति भक्तिभावना कैसे आयेगी ? क्योकि ये सब कार्य करुणा व क्रोध के बिना तो सभव ही नही होते। ऐसी मान्यतावालो के द्वारा तो वीतराग भगवान की भक्ति के बजाय उनका अवर्णवाद ही होता है।

वीतरागी जिनेन्द्रदेव के स्वरूप से अपरिचित भक्त तो भगवान का और उनकी भक्ति का मूल्यांकन भी अपनी माँग पूर्ति के हिसाब से ही करते हैं। उनके मन मे भगवान के प्रति निष्काम भक्तिभावना कहाँ से/कैसे आयेगी ?

सच्ची पूजा-भक्ति तो वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ पहचानपूर्वक ही होती है और जिन्हे इनकी पहचान होती है, उन्हे ही पूजा के द्वारा पापो की निवृत्ति एव आत्मा की प्राप्ति रूप सच्चे फल की प्राप्ति होती है और यही पूजा का मुख्य प्रयोजन है।

पूजन के मुख्यत. दो ही प्रयोजन है, एक पापो से बचना और दूसरा परमात्म पद प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना।

पहला प्रयोजन तो इस तरह पूरा हो जाता है कि जबतक अरहंत व सिद्ध परमात्मा हमारे ध्यान में विचरेंगे; तब तक पाँचों पाप, पाँचों इन्द्रियो के विषय एवं राग-द्वेषादि मनोविकार हमारे ध्यान मे आ ही नहीं सकेगे; क्योकि ध्यान मे परमात्मा और पाप एक साथ नही ठहरते।

क्षेत्र काल की अपेक्षा भी जिनमन्दिर और पूजा-पाठ का समय विषय-कषाय के वातावरण से अछूते ही रहते हैं। मन्दिर की मर्यादित सीमा में विषय-विषधर प्रवेश नहीं पाते।

दूसरा प्रयोजन भी परमात्मा के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने-पहचानने से, उसी में चित्त को रमाने से पूरा हो जाता है।

जबतक परिपूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण पवित्रता की प्राप्ति अपने जीवन में नहीं हो पाती, तबतक न चाहते हुए भी शुभभावों के रहने से ज्ञानी धर्मात्माओं को भी सातिशय पुण्यबंध भी सहज ही होता रहता है, जिनके निमित्त से लौकिक अनुकूलतायें भी बनी ही रहतीं हैं।

अन्य अज्ञानी जीवो के भी यदि पूजा करते समय मंद कषाय हुई तो उतनी देर पापो से निवृत्ति के कारण उन्हें भी यथायोग्य पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। यदि किसी के मन मे लौकिक कामना से तीव्र कषाय रही तो पूजा जैसे पवित्र कार्य करते हुए भी पापबध भी होता है; क्योकि पुण्य-पाप का बंध भी तो भावों से ही होता है।

कहा भी है -

बन्ध-मोक्ष परिणामन ही सों, कहत सदा ये जिनवर वाणी।

धर्मेश का एक अन्य प्रश्न सिद्ध भगवान के आह्वान के संबंध में यह था - "जब सिद्ध परमात्मा ससार मे आते ही नहीं हैं, आठो कर्मों का अभाव हो जाने से आ भी नही सकते तो फिर हम सिद्धपूजन मे उनका आह्वान क्यों करते हैं ? क्या औचित्य है इसका ? पूजन के पाँच अंगों में आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरण - तीन तो ये ही हैं। पूजन के अगो मे इन्हे इतना महत्व क्यो ? और जब आह्वान आदि का ही औचित्य सिद्ध नहीं होता तो फिर विसर्जन भी किसका ?"

पण्डितजी ने धर्मेश की शका का समाधान लौकिक उदाहरण और मनोवैज्ञानिक पद्धति से करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा - "मानलो अपना कोई ऐसा सगा-सबंधी है, जिसके साथ अपने अत्यन्त निकट के सबंध हैं, पारिवारिक परिस्थितिवश या असाध्य बीमारी के कारण वह अपने यहाँ हो रहे शादी के उत्सव में सम्मलित नहीं हो सकता। शत-प्रतिशत तय ही है कि वह आयेगा ही नहीं - ऐसी स्थिति में उसे आमंत्रण-पत्र भेजना चाहिए या नहीं ?"

धर्मेश ने उत्तर दिया - " भले ही कोई आये या न आये, आ सके या न आ सके, यह उसकी समस्या है; पर आमंत्रण तो दिया ही जाना चाहिए। आमंत्रण न देने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अरे ! मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि ऐसी मजबूरी में वे न आ सके हों तो आशीर्वाद लेने उनके घर स्वय वर-वधू को पहुँचना चाहिए।"

धर्मेश के उत्तर के आधार पर ही पण्डितजी ने कहा -

"लोक व्यवहार मे जब आमत्रण न देने जैसी कल्पना करना भी उचित नहीं है तो धर्म के क्षेत्र में ऐसा प्रश्न ही कैसे हुआ कि जब अरहत व सिद्ध आते ही नहीं हैं तो उनका आह्वान करना चाहिए या नही ? अरे ! तुम आह्वान करने मे प्रश्नचिन्ह लगा रहे हो। भक्त तो उसे कहते है कि यदि उसका वश चले तो स्वय सिद्धालय में जाकर सिद्ध परमात्मा को बुलाकर ले आये। क्या आपने भक्तिपरक स्तुतियो मे, स्तोत्रो मे नही देखा कि वीतराग परमात्मा को भी कैसे-कैसे विशेषणो से सम्बोधित किया गया है, कैसे-कैसे उपालम्भ दिए गये हैं ? अतः पूजन-भक्ति में आह्वान करना कोई अनुचित क्रिया नहीं है।"

धर्मेश ने एक क्षण रुककर जब अपने प्रश्न के सदर्भ मे पण्डितजी की प्रबल युक्ति पर गम्भीरता से विचार किया तो अन्तरात्मा से आवाज आई -

सचमुच बात तो ऐसी ही है - अरहत व सिद्ध भगवान भले आयें या न आये, आ सकें या न आ सके, पर जो परमात्मा हमारे परम हितोपदेशी है, हमारे आदर्श हैं, परमगुरु हैं, परमपूज्य देवाधिदेव है, हमारे ही पूर्वज है, वे हमे प्रतिदिन याद न आये, उनका हम आह्वान न करें - यह कैसे हो सकता है ? भगवान को पहचानने वाले भक्तो के हृदय मे यह प्रश्न पैदा ही नही होता कि भगवान का आह्वान करें या नहीं ? वे तो करते ही है और सभी भक्तो को भी करना ही चाहिए।

अरे ! एक बात यह भी तो है कि वे लोक में भले न आयें; पर हमारे ज्ञान में तो आ ही सकते हैं। समय-समय पर स्वप्नो मे तो आ ही जाते हैं और ध्यान में भी विचर ही सकते हैं। ध्यान मे आने से उन्हे कौन रोक सकता है ?

इसीलिए तो महावीर वन्दना में कहा है -

वे वर्द्धमान महान् जिन विचरें हमारे ध्यान में।

भले ही सिद्ध परमात्मा साक्षात् न आयें, मात्र ध्यान में ही आ जायें, तो भी हमारा प्रयोजन तो पूरा हो ही जाता है।

धर्मेश के मुखमंडल पर उत्साह की रेखायें देखकर पण्डितजी ने आह्वानन संबंधी प्रश्न को बालमनोविज्ञान के एक अत्यन्त सरल व रोचक उदाहरण से स्पष्ट किया।

उन्होंने कहा - "बात उस समय की है जब लोग रस्सी-बाल्टी लेकर कुएँ पर स्नान करने जाया करते थे। कुएँ के किनारे भी कच्चे ही रहते थे, किनारों पर पानी फैलते रहने से काई जम जाती, इस कारण कुएँ में फिसल जाने की भी शका बनी रहती, पर सावधानी के सिवाय बचने का और कोई उपाय नहीं था।

एक बालक अपने पिता के पीछे-पीछे नहाने के लिए कुएँ पर पहुँच गया और कुएँ के किनारे पर जाकर बैठ गया। पिता चिल्लाया - 'अरे ! कहाँ जाकर बैठा है, वहाँ से हट जा । देखता नही, कितनी काई जम रही है, पाँव फिसलते ही ।।।।।

पिता का वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया कि पुत्र धड़ाम से कुएँ में जा गिरा। पानी कम होने से और सीधा गिरने से डूबा भी नहीं और तन पर चोट भी नहीं लगी; पर मन मे घबराहट तो हो ही गई।

पिता भी पुत्र को कुएँ मे गिरा देख घबरा गया; पर कुएँ के अन्दर से आवाज आई। पिताजी ! आओ, आओ और मुझे इस सकट से बचाओ ! यहाँ चारो ओर साँप ही साँप हैं, मेंढक है, पानी भी बहुत ठंडा है, जल्दी आओ, जल्दी और मुझे निकालो।

पुत्र की पुकार सुनकर पिता को इतनी तसल्ली तो हो गई कि बेटा बच गया है और पूरे होश-हवास में है, पर करूँ क्या? उसके पास कैसे जाऊँ ?

उसके पास पहुँचना तो संभव नहीं था, पर पिता को एक उपाय सूझा, उसने रस्सी को कुएँ में डाला, रस्सी तीन बेलों से मजबूत बनी थी, बालक उसके सहारे ऊपर आ सकता था, पर नादान बालक रस्सी का सहारा न लेकर पिता को पुकारता ही रहा - यहाँ आओ - यहाँ आओ -।

बस यही स्थिति भक्तों एवं भगवान की है। सभी भक्त भवकूप में पड़े हैं और भगवान भवकूप के किनारे पर सिद्धशिला पर बैठे हैं। भक्त उनका आह्वान करता है। पर भगवान भी क्या करें ? उनका यहाँ भवकूप में आना तो सभव है नहीं। हाँ ! उन्होने भी उस बालक के पिता की भाँति ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन बेलो से बटी मजबूत मोक्षमार्गरूपी रस्सी भवकूप मे डाल रखी है। भक्त चाहे तो उस रस्सी के सहारे सिद्धशिला रूप भवकूप के किनारे पर अपने परम पिता परमात्मा के पास पहुँच सकते हैं।

यदि नादान भक्त भगवान के बताये मोक्षमार्ग पर न चलकर उन्हे केवल 'अत्र अवतर-अवतर' कहकर उनका आह्वान ही करता रहे, उन्हे यहाँ भवकूप मे ही बुलाता रहे तो उस बालक की तरह भक्त भी भवकूप मे पड़े-पड़े रोते ही रहेगे।

भाई ! भक्तिवश भक्त को सबकुछ कहने की छूट है, पर ज्ञानी भक्त वास्तविकता से अनभिज्ञ नही होते।

जो भक्त समझदार होते हैं, वे भगवान की भक्ति-पूजा के साथ उनके बताये मार्ग पर चलते हैं और एक न एक दिन स्वय भगवान बन जाते है। इसके विपरीत जो भगवान के भरोसे ही भवकूप मे पड़े-पड़े उन्हे केवल पुकारा ही पुकारा करते हैं, उनके बताये मार्ग को सुनने-समझने की कोशिश ही नही करते, वे भवकूप से नही निकल पाते।

भाई ! पूजा-भक्ति के माध्यम से अपने को पहचान कर भक्त से स्वय भगवान बन जाना ही पूजा का मूल प्रयोजन है।"

पण्डितजी द्वारा ऐसे सरल-सुबोध शैली मे किए समाधान से धर्मेश तो हर्षित हुआ ही, अन्य लोगो ने भी भरपूर लाभ लिया।

प्रश्न तो और भी बहुत थे, पर समयाभाव के कारण सभी प्रश्नो का समाधान तो सभव नहीं हो सका, पर जितना जो समाधान मिला, उससे सभी श्रोता गद्गद् थे।

वैसे तो पण्डित जिनेशचन्द्रजी धर्मेश के नगर के निकट ऐसे आदर्श ग्राम में रहते थे, जहाँ सुविधायें तो सब शहर जैसी थीं; पर शहरों जैसा कोलाहल,

भाग-दौड़, गंदगी और गुंडागर्दी नहीं थी। यातायात के साधन भी सब थे। विशुद्ध ग्रामीण वातावरण और दूध-दही, साग-सब्जी आदि के सब साधन सुलभ थे। अन्तर्मुखी मनोवृत्ति होने से पण्डितजी को एकान्तवास ही अधिक प्रिय था। उनका स्वाध्याय भी स्वान्तःसुखाय होता था। आगे आकर तत्त्व प्रचार-प्रसार के आयोजन करना उनकी प्रकृति में नहीं था। कोई करे तो उससे तो वे प्रसन्न ही होते; पर स्वयं कुछ करने को उनका मन नहीं होता। वे इस प्रयोजन से कही आते-जाते भी नहीं थे। यही कारण रहा कि उनकी जनसाधारण में विशेष प्रसिद्धि व परिचय नहीं हो पाया।

धर्मेश ने यदि अधिक आग्रह न किया होता तो वे धर्मेश के यहाँ भी प्रवचन व तत्त्वचर्चा करनेवाले नही थे। धर्मेश की तो होनहार ही भली थी जो उसका पण्डितजी से अनायास ही घनिष्ट परिचय हो गया। जाते-जाते सभी ने पण्डितजी को पुन पधारने के लिए हार्दिक आमत्रण दिया; पर पण्डितजी को कही आने-जाने मे विशेष उत्साह नहीं आता, अतः वे उन्हे सामान्य औपचारिक आश्वासन देकर अपने घर को प्रस्थान कर गये। •

४
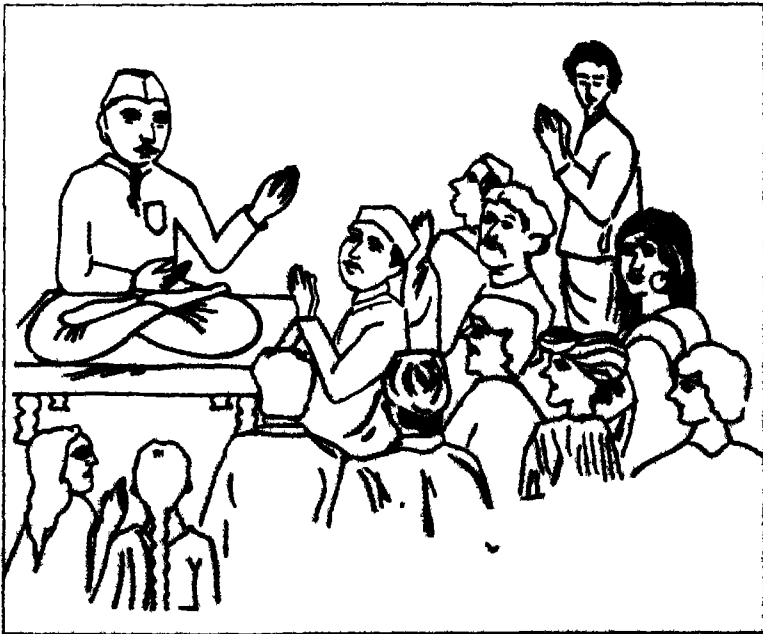
धर्मेश जन्म से ही जिज्ञासु था । वह बचपन मे अपने पिता और पड़ौसियो से ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछा करता था, जिनका उत्तर देते-देते वे परेशान हो जाते। अनेक प्रश्न तो ऐसे होते, जिनके उत्तर उन्हे भी नहीं आते। उन्हे निरुत्तर देख धर्मेश कहता - "कोई बात नही, अभी जल्दी नही है, फिर सोचकर बता देना, पर बताना जरूर।"

पूर्व पीढी से तो उसे धार्मिक सस्कार मिल ही रहे थे, ऐसा लगता है पूर्व पर्याय मे भी वह धर्मात्मा रहा होगा, अन्यथा ऐसे नित्योपयोगी प्रयोजनभूत प्रश्न उसके मन मे कहाँ से उपजते ?

वह ज्यो-ज्यो बडा हुआ, उसकी जिज्ञासा धर्म का मर्म जानने की ओर वृद्धिगत होती गई। उसे जब भी कही/कोई नवीन जानकारी प्राप्त करने का मौका मिलता तो वह उस मौके का लाभ लिये बिना नहीं रहता। वह अधिकाश अपने समय का सदुपयोग अपनी ज्ञान पिपासा की पूर्ति करने में ही करता।

जब पण्डित जिनेशजी का धर्मेश के नगर में अनायास आगमन हुआ था, तब धर्मेश ने उनसे भी अपने मन मे उपजे प्रयोजनभूत प्रश्न पूछे थे और पण्डितजी द्वारा अपने मन में चिर सचित शकाओ का आगम सम्मत एव युक्ति सगत समाधान पाकर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव किया था, तभी से वह पण्डितजी के पाण्डित्य और उनकी स्वाभाविक सरलता एव उदारता से पूर्ण प्रभावित था। पण्डितजी की प्रेरणा से वह स्वाध्याय भी खूब करने लगा था और तभी उसने मन ही मन यह संकल्प कर लिया था कि मैं पण्डितजी के ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाऊँगा। चाहे मुझे कितने ही कष्ट क्यों न झेलने पड़े, पर मैं पीछे नहीं हटूँगा। पण्डितजी को कष्ट पहुँचाये बिना उनसे अधिकतम लाभ कैसे लिया जा सकता है ? इस ओर उसका चिन्तन चल पड़ा।

जहाँ चाह वहाँ राह। थोड़े से प्रयास से ही धर्मेश को सहज ही पण्डित जिनेशजी जैसा निःस्वार्थी, अध्यात्म विद्या में निपुण, सभी ओर से निर्पेक्ष ज्ञान गुरु मिल गया। फिर क्या था, धर्मेश ने अपने विद्यागुरु जिनेशजी से तत्त्व का भरपूर लाभ लिया। धर्मेश पण्डित जिनेशजी का सान्निध्य पाकर मानो कृतकृत्य ही हो गया था। वह बुहत प्रसन्न था। पण्डित जिनेशजी भी धर्मेश जैसे प्रतिभाशाली और धार्मिक रुचि सम्पन्न जिज्ञासु शिष्य को पाकर फूले नहीं समाये। मानो मणि-कांचन योग हो गया हो। कहते हैं एक और एक दो ही नहीं, ग्यारह भी होते हैं। सचमुच पण्डित जिनेशजी और जिज्ञासु धर्मेश एक और एक ग्यारह हो गये थे।

जहाँ पण्डित जिनेशजी विराजते थे, अबतक वहाँ उनके द्वारा दोनों समय आध्यात्मिक प्रवचन एव एक समय शंका-समाधान के रूप में ज्ञान-गोष्ठी तो चलती ही थी, इसके सिवाय वे स्वयं दो कक्षाये भी चलाते थे, पर इन कार्यक्रमों से कुछ वयोवृद्ध लोग ही लाभ लेते थे। पण्डितजी की ज्ञान-गंगा बहती तो बराबर रही, पर उसमे अवगाहन करनेवाले कुछ इने-गिने लोग ही थे।

अपने सकल्प के अनुसार धर्मेश ने वहाँ नियमित जाकर और वहाँ अधिकतम रुककर पहले पाँच वर्ष तक तो चुपचाप पण्डितजी द्वारा प्रवाहित ज्ञान-गंगा में आकठ निमग्न हो-होकर ज्ञानामृत का पान किया। आध्यात्मिक शास्त्रो का गहन अध्ययन, मनन, चिन्तन करके ज्ञानार्जन किया और ज्ञान-गोष्ठी मे शका-समाधान द्वारा अपने ज्ञान का परिमार्जन करके अपनी श्रद्धा एव ज्ञान को खूब निर्मल किया। तत्पश्चात् पण्डित जिनेशजी की भावनाओ के अनुसार प्रचार-प्रसार को गति प्रदान करने के लिए पूरे उत्साह के साथ नवीन-नवीन योजनाएँ उनके समक्ष प्रस्तुत कीं। पण्डितजी को धर्मेश की योजनाएँ बहुत पसन्द आयीं। 'अंधे को क्या चाहिए दो आँखें' सचमुच पण्डित जिनेशजी को धर्मेश के रूप में दो आँखें ही मिल गई थीं। इसका पण्डितजी को भारी हर्ष था।

योजनाएँ तो उत्तम थीं हीं, धन की भी कमी नहीं थी। धीरे-धीरे पण्डित जिनेशजी के साधारण से आवास ने **अध्यात्म विद्या शिक्षण संस्थान** का रूप ले लिया। सर्वप्रथम वहाँ शिक्षण-शिविरो की शृखला का शुभारम्भ हुआ। लोग दूर-दूर से इन शिक्षण-शिविरो का लाभ लेने हेतु आने लगे। धर्मेश द्वारा उन शिविरार्थियो को पढाने के लिए एक सरल सुबोध पाठ्यक्रम भी तैयार किया गया और शिक्षक भी तैयार किये गये।

वह धर्मरूप वटबीज धर्मेश के सद्प्रयासो से धीरे-धीरे विशाल वटवृक्ष के रूप मे पल्लवित होता चला गया; जिसकी चतुर्दिक फैली बडी-बडी शाखाओ की शीतल छाया मे सहस्रो श्रोता नियमित धर्मलाभ लेने लगे।

वयोवृद्ध विद्वान पण्डित जिनेशजी अपनी आँखो के सामने ही अपने एक साधारण से आवास स्थान को एक विशाल आध्यात्मिक शिक्षण-सस्थान के रूप मे परिवर्तित होता देख भारी प्रसन्न होते थे और इसका सम्पूर्ण श्रेय धर्मेश को दिया करते थे। धर्मेश उन्हे धर्मपुत्र के रूप मे प्राप्त जो हो गया था। यदि वे चिराग लेकर ढूँढते, आकाश-पाताल एक कर देते तो भी शायद धर्मेश जैसा शिष्य उन्हे नही मिलता, जो घर बैठे उन्हे सहज उपलब्ध हो गया था। उन्हे विश्वास हो गया था कि उनके द्वारा दिया गया तत्त्वज्ञान धर्मेश जन-जन तक पहुँचा कर उनकी उन मनोकामनाओ को अवश्य पूर्ण करेगा, जिन्हे वे नही कर पा रहे थे। इस कारण उन्होने बिना किसी सलाह मसविरा किये ही स्वय पूर्वापर विचार कर धर्मेश को सस्थान का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। फिर क्या था, धर्मेश का उत्साह द्विगुणित हो गया और उसके अथक् प्रयासो से वह शिक्षण सस्थान रूपी लघु वाटिका ऐसा विशाल बाग बन गया, जिसके रग-बिरगे विविध पुष्पो की महक से सारा देश महक उठा।

देश के कोने-कोने मे तो आध्यात्मिक क्रान्ति हुई ही, विदेशो में रहनेवाले भारतीय भाइयो तक भी इस अध्यात्म विद्या की सुगन्ध पहुँच गई। फलस्वरूप बड़े-बड़े विद्वान् और श्रीमत भी धर्मेश के उस शिक्षण सस्थान को देखने और लाभ लेने की भावना से आने लगे।

धर्मेश अपने शिक्षण-संस्थान में तो नियमित ज्ञान-गंगा बहाते ही, समय-समय पर समाज के आमन्त्रण पर अपने सहयोगियों के साथ बाहर जाकर भी आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों के आयोजन करते रहते।
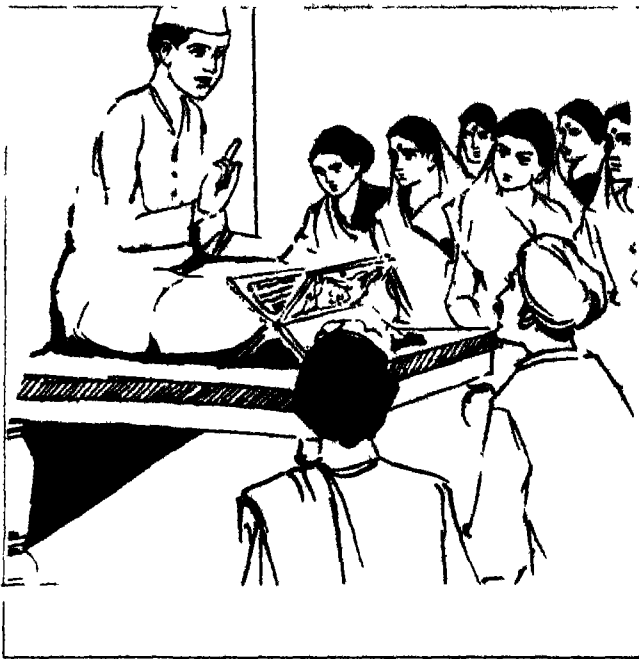
यदि धर्मेश को शिक्षण-शिविरों की परम्परा का जनक कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। आज सारे देश मे जो आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगाये जा रहे है, सचमुच यह धर्मेश की ही देन है। यदि उन्होने इनका शुभारम्भ नही किया होता तो सम्भवत• आज भी जिनवाणी अलमारियो में बन्द पडी रहती। एतदर्थ धर्मेश का एव उनके द्वारा संचालित शिक्षण-संस्थान का जितना भी आभार माना जाय, कम ही होगा। •

५

धर्मेश को विचारों मे डूबा देख अमित ने कहा - "कहो भाई धर्मेश ! किन विचारो मे डूबे हो ? क्या सोच रहे हो ? एक तुम हो, जो दिन-रात किसी न किसी चिन्ता मे ही डूबे रहते हो, कुछ न कुछ सोच-विचार मे ही अपना माथा खराब करते रहते हो, और एक मैं हूँ, जिसने कभी किसी के बारे मे कुछ सोचा ही नहीं, कभी कोई चिन्ता-फिक्र की ही नहीं।

भाई। तुम स्वय भी कम चिन्तनशील नही थे। ऊपर से पण्डित जिनेशचन्द्रजी जैसे एकान्तप्रिय मौनी बाबा का सत्संग करने लगे, सो अब तो पूछना ही क्या है तुम्हारी चिन्तनशीलता का ?"

भाई । अब तो तुम एक काम करो, पीछी-कमण्डल लेकर पूरे सन्यासी बन जाओ और चले जाओ किसी पहाड की चोटी पर।"

फटकारते हुये अमित ने आगे कहा - "पागल कहीं का, यह भी कोई तरीका है जिन्दगी जीने का ? क्या हो गया है तुझे ? कहाँ वे बहत्तर वर्षीय बूढ़े-बाबाजी पण्डित जिनेशचन्द्रजी और कहाँ तू तीस वर्ष का हट्टा-कट्टा जवान ? क्या ये दिन धर्म-ध्यान के चक्कर मे आकर इस तरह शरीर सुखाने के है। वाह भाई वाह । तू भी कमाल करता है।

तेरी हठ से तेरे पिताजी अलग परेशान है। बेचारो ने एक से बढ़कर एक कितनी कन्याये देखीं तेरे लिए, पर तू हाँ ही नहीं करता शादी के लिए। यह भी कोई बात है ? क्या शादी बुढापे मे करेगा? अरे । छोड उन पण्डितजी का पीछा। अपनी दुकानदारी देख, धधा सभाल और पिताजी को चिन्ता से मुक्त कर।

अरे मित्र । अपना तो एक ही सिद्धान्त है कि खाओ, पिओ और मौज करो। थोड़े से दिनो की जवानी है, हँसी-खुशी से जिओ और जी भर कर पियो। भविष्य किसने देखा है, जिसकी चिन्ता करे।"

अमित ने धर्म की कटु आलोचना करते हुये आगे कहा -

"हालांकि मेरी पत्नी भी मेरे इन विचारों और आदतों से परेशान रहती है, झिकझिक भी वह बहुत करती है। धर्म-पत्नी जो ठहरी। 'धर्म' का तो चक्कर ही कुछ ऐसा है, जिसके साथ भी यह 'धर्म' जुड़ जाता है, उसे तो परेशान होना ही होना है। तुम स्वयं ही देखलो न। 'धर्म' के चक्कर में पड़ते ही फस गये न चिन्ताओं के चक्कर में। अपन तो ऐसे मस्तराम हैं कि अपनी नीद सोते हैं और अपनी नींद जागते हैं, चिन्ता में मरें हमारे शत्रु। हम चिन्ता करके अपने हाड़-मास क्यों सुखायें? कभी-कभार कोई तनाव होता भी है तो दो-चार पैग पी लेते हैं। धर्म की तो क्या, हम तो धंधे की भी चिन्ता नहीं करते।

न कुछ लेकर आये थे, न कुछ लेकर जायेंगे ।
मुट्ठी बाँधे आये थे, हाथ पसारे जायेंगे॥

इसलिए बस, जितने दिन की जिदगी है, उतने दिन मस्ती में ही क्यों न जिये। अन्त मे तो हम सबको यहीं मिट्टी मे मिलना ही है।"

धर्मेश मन ही मन सोच रहा था - "देखा ! कैसी फिलासफी झाड़ रहा है ? क्या यही अर्थ है इस वैराग्यवर्द्धक दार्शनिक कथन का ? जितने दिन जिओ, जी भर के पिओ, दिन-रात एक करके पैसा कमाओ और विषयानन्दी रौद्रध्यान मे जीवन गमाओ, फलस्वरूप कु-मरण कर नरक-निगोद मे जाओ ? वाह ! खूब अच्छा अर्थ निकाला ! कैसा पागलपन है यह इसका ?"

धर्मेश को अमित की नास्तिकता पूर्ण बाते सुनकर झुंझलाहट तो बहुत हुई; पर वह मन मारकर रह गया। वह सोचने लगा -

"यह कैसा पढ़ा-लिखा आदमी है, इसकी बातो का कोई ठिकाना ही नहीं, कभी कुछ कहता है कभी कुछ। एक क्षण पहले कहता है कि हम चिन्ता करके हाड़-मास क्यों सुखायें ? चिन्ता करें हमारे शत्रु, अगले ही क्षण कहता है कभी-कभार तनाव होता भी है तो दो-चार पैग पी लेता हूँ । -"

धर्मेश अमित को इतना भौतिकवादी नहीं समझता था। वह तो उसे एक पढ़ा-लिखा विवेकवान व्यक्ति मानता था। अमित का लम्बा लेक्चर सुनकर वह आश्चर्यचकित रह गया।

वह सोचने लगा - एक नहीं, तीन-तीन विषयो में पोस्ट ग्रेज्यूएशन करने वाला व्यक्ति धर्म के सबंध मे इतना अनजान कैसे ?

जैन होकर भी जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो से सर्वथा अनभिज्ञ होगा, इसकी धर्मेश को कल्पना भी नही थी। पर एक क्षण बाद ही उसे पण्डितजी द्वारा बताया गया वह सिद्धान्त याद आ गया, जिसमे पण्डितजी ने यह बताया था कि - **प्रत्येक विषय को जानने की ज्ञान की पर्यायगत योग्यता स्वतंत्र होती है।** और अब तो वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भी हर क्षेत्र मे एक जैसी कार्य नही करती। एक विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति दूसरे विषय मे सर्वथा अनभिज्ञ भी देखे जाते हैं, क्योकि प्राप्तज्ञान मे जिस विषय को जानने की योग्यता होती है, वही विषय उस ज्ञान का ज्ञेय बनता है, अन्य नहीं।

एक बहुत बडे वैज्ञानिक के बारे मे कहा जाता है कि उसे इतनी मोटी बात समझ मे नहीं आ रही थी कि एक ही रास्ते से दो (छोटी-बडी) बिल्लियाँ अन्दर-बाहर आ-जा सकती है। अत वह दोनो बिल्लियो को अन्दर-बाहर आने-जाने के लिए दो द्वार बनाने का आग्रह तबतक करता रहा, जब तक कि उसे एक ही द्वार से दोनो बिल्लिया निकालकर प्रत्यक्ष नही दिखा दीं गईं।

यह जरूरी नहीं कि एक बहुत बडा इजीनियर, डॉक्टर, ज्योतिषी और आई ए एस व्यक्ति भी अच्छी चाय व स्वादिष्ट साग-सब्जी बना सके। साग-भाजी बनाना तो दूर, बहुत से बुद्धिमान व्यक्ति तो शर्ट मे बटन भी नही टाक पाते। इसी कारण तो बालको को उनकी रुचि के अनुरूप ही पाठ्य विषयो का चुनाव करने की सलाह दी जाती है। माँ-बाप द्वारा बालक की रुचि के विरुद्ध पाठ्य विषय दिलाने पर अधिकाश बालक असफल होते देखे जाते हैं, उनकी असफलता का कारण भी यही है कि **बुद्धि तत्समय की पर्यायगत योग्यतानुसार अपने निश्चित विषयो में ही चलती है।**

जैनदर्शन मे तो इसे एक बहुत बडे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ कहा है कि **प्रत्येक पदार्थ को जानने की ज्ञान की पर्यायगत योग्यता बिल्कुल स्वतंत्र होती है। प्राप्त ज्ञान में जिस विषय को जानने-समझने की योग्यता होगी, वही विषय उस ज्ञान का ज्ञेय बनेगा, अन्य नहीं।**

यह सैद्धान्तिक बात धर्मेश ने जब सुनी थी, उस समय इसकी उपयोगिता उसकी समझ में इतनी स्पष्टरूप से ख्याल में नहीं आई थी, पर अब अमित के जीवन मे अक्षरश: घटित होते देख धर्मेश को सबकुछ स्पष्ट हो गया।

बस इसी सिद्धान्त का सहारा लेकर धर्मेश ने अमित की बेसिरपैर की बातों पर हुई अपनी झुंझलाहट को उपशमित करते हुए सोचा -

अस्तु अबतक जो हुआ सो हुआ। संभव है अब उसकी समझ में कुछ आ जाय। प्रतिसमय का परिणमन जब स्वतंत्र है तो भूतकाल के आधार पर हताश क्यो हों ? प्रयत्न करने मे हानि ही क्या है ?

यह सोचकर धर्मेश ने अमित को प्रेमपूर्वक समझाया - "मित्र ! अपने बारे मे, आत्मा-परमात्मा के बारे मे, ससार, शरीर व भोगों की क्षणभगुरता एव ससार की असारता के बारे मे विचार करने से माथा खराब नहीं होता, बल्कि ऐसे विचार से अनादिकाल से खराब हुआ माथा ठीक होता है।"

अपनी बात को आगे बढाते हुए धर्मेश ने कहा - "माथा खराब होता है पाचो इन्द्रियो के विषयो मे डूबे रहने से, माथा खराब होता है मोह-राग-द्वेष और कषाय के कलुशित भावो से, दिन-रात इन्हीं भोगो की सामग्री के सग्रह करने की धुन मे और गैरकानूनी व्यापार-धधों से चिपके रहने मे। भाई ! सबसे अधिक माथा खराब होता है पर का भला-बुरा करने की अनधिकृत चिता मे। अत. यदि तुम अपना भला चाहते हो, अपना माथा ठीक रखना चाहते हो तो मै जो कहता हूँ, उस पर गंभीरता से विचार करो और अपने इस भौतिकवादी भोगप्रधान दृष्टिकोण को बदलो। तभी तुम्हारी ज्ञानपर्याय में तत्त्वज्ञान समझने योग्य पात्रता पकेगी। अन्यथा धर्म के बारे मे तुम्हारी समझ में कभी कुछ नहीं आयेगा।

अमित ! मैं जानता हूँ कि तुझे मेरी सलाह की गर्ज नहीं है, पर न जाने क्यो ? मेरा मन मुझे तुझसे कभी-कभी कुछ कहने को मजबूर कर देता है। इसकारण मैं तुझसे बहुत कुछ कह गया हूँ, इसी सिलसिले में एक बात और कहने का मन हो रहा है। वह यह कि - **ये जो भाव होते हैं, इनका फल क्या होगा ?** इस बात पर भी थोडा गंभीरता से विचार करना।

भाई ! मुझे और कोई चिन्ता नहीं है। आजकल मैं जब कभी थोड़ी-बहुत देर के लिए दुकान पर जाता हूँ तो वहाँ मेरा मन ही नही लगता। मैं वहाँ बैठा-बैठा भी इसी सदर्भ में सोचता रहता हूँ। इससे मैं बहुत से अनर्थकारी विचारो से बचा रहता हूँ। यदि तुम भी अपने मे होनेवाले भावों के बारे में विचार करोगे और उनसे होनेवाले पुण्य-पाप के बारे मे चिन्तन करोगे तो तुम्हारे जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है और अनोखे आनन्द की झलक आ सकती है।''

अमित ने रूखा-सा जवाब दिया - ''मित्र ! तुम्हारी चिन्ता और चिन्तन तुम्हें ही मुबारक हो और तुम्हारे जैसा जीवन भी तुम्हें ही मुबारक हो, हम इस चिन्ता या चिन्तन के चक्कर मे पडे ही क्यों ? हमारे जीवन को ऐसा खतरा क्या है, जो हम इन चक्करो में पडे ? अरे ! हमारे जैसा मजे का जीवन तो अभी लाखों में एकाध का भी शायद ही होगा।''

धर्मेश ने कहा - "भाई चिन्ता और चिन्तन में मौलिक अंतर है, चिन्ता अज्ञान की उपज है, तत्त्वज्ञान सबंधी अज्ञानता से उसका जन्म होता है और वह स्वयं आकुलता की जननी है। तथा चिन्तन वस्तुस्वरूप की शोध-खोज का सर्वोत्तम साधन है, आत्मोपलब्धि का और अज्ञानजन्य आकुलता को मेटने का अमोघ उपाय है।"

अमित-पढ़ा-लिखा अवश्य है, पर यह चिन्ता व चिन्तन का अन्तर उसकी समझ में नहीं आया। तभी तो उसने धर्मेश की बात पर ध्यान नहीं दिया, संतोष प्रगट नही किया।

धर्मेश अबतक अमित की रुचि और स्वभाव को भली-भाँति समझ चुका था, अत. उसने उसकी बात को बहुत हल्के से लिया, उसके कहने का कोई बुरा नही माना, क्योकि उसे उससे ऐसे ही उत्तर की आशा थी।

शान्तभाव से धर्मेश ने उससे कहा - "कोई बात नहीं, मैं अपने शब्द वापिस लेता हूँ। मुझसे मित्रता के मोह मे पड़कर यह भूल हो गई जो मैंने तुम्हे बिना माँगे सलाह दी। सचमुच किसी को भी बिना माँगे कभी भी सलाह नहीं देनी चाहिए।

भाई ! परामर्श मानने के लिए कोई किसी को बाध्य नहीं कर सकता, करना भी नही चाहिए। इसके लिये तुम पूर्ण स्वतत्र हो, पर कभी-कभी तुम मिलने-जुलने तो आते ही रहना। मिलते-जुलते रहने मे हानि ही क्या है ? विचारो के आदान-प्रदान से कभी किसी को कुछ न कुछ लाभ होगा ही।"

अमित ने कहा - "हाँ, हाँ; आऊँगा, अवश्य आऊँगा। न मिलने-जुलने का तो प्रश्न ही कहाँ है ? आखिर बचपन के मित्र जो हैं और विचारशील व्यक्तियो मे मतभेद तो होते ही हैं, हाँ मनभेद नहीं होना चाहिए।"

धर्मेश ने मुस्कराकर कहा - "हाँ मित्र ! तुम्हारा यह कहना शत प्रतिशत सही है। मैं भी तुम्हारी इस बात से पूर्ण सहमत हूँ।"

अमित धर्मेश की दार्शनिकता पर ठहाका लगाता हुआ घर की ओर चला गया।

•

६

गंभीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नही होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं है, बड़बड़ाते नहीं हैं, बल्कि उनकी बातों पर, क्रियाओ पर शान्ति से पूर्वापर विचार करके उचित निर्णय लेते है, तदनुसार कार्यवाही करते है और आवश्यक मार्गदर्शन देते है।

धर्मेश के समक्ष अपने धार्मिक अज्ञान और नास्तिकता का परिचय देते हुए अमित ने जो भाषणबाजी की, उसके उत्तर मे धर्मेश ने अधिक कुछ न कह कर अमित से बडी ही शालीनता से मात्र दो बातो पर विचार करने के लिये कहा।

अमित उस समय तो धर्मेश की उपेक्षा करके, उसकी बातो से किसी तरह पीछा छुड़ाकर चला गया, पर उन बातो ने उसका पीछा नहीं छोडा। ये बाते सक्रामक रोग की भाँति उसके मन-मस्तिष्क पर छा गईं। अबतक अमित पर धर्मेश के गभीर व्यक्तित्व की कुछ-कुछ छाप पड़ चुकी थी, इस कारण वह रात मे बहुत देर तक उन्हीं बातो के बारे मे सोचता रहा -

यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये जो भाव हो रहे हैं, इनका क्या फल लगेगा ?-

अमित ने सोचा - आखिर, धर्मेश इन बातो से समझाना क्या चाहता है, वह कहना क्या चाहता है ? वैसे बातें तो साधारण-सीं लगतीं हैं, पर धर्मेश जैसा व्यक्ति कह रहा है, जिसके सामने श्रोता बने बैठे बड़े-बडे विद्वान् सिर

हिलाते हैं, वाह-वाह करते हैं, गजब' गजब - कहते हैं, दूर-दूर से लोग उसे सुनने आते हैं। अतः उसकी बातो में वजन तो होना ही चाहिए ?"

दूसरे दिन ही अमित ने धर्मेश से कहा - "मित्र ! तुम तो जानते ही हो कि मैं कितना व्यस्त रहता हूँ। अनेक सामाजिक, धार्मिक संस्थाओ से जुड़ा हूँ, थोड़ा-बहुत राजनीति मे भी दखल रखना ही पड़ता है; क्योंकि मेरा धंधा भी कुछ ऐसा ही है न ? जिसमे राजनैतिक प्रभाव तो चाहिए ही, अन्यथा आये दिन कुछ न कुछ झझट हुए बिना न रहे। आज इन्कम टैक्स वालो का छापा तो कल पुलिस वालो की तहकीकात। फिर भी मैंने तुम्हारी बात पर विचार करने की पूरी-पूरी कोशिश की।

देखो भाई ! तुमने दो बातो पर विचार करने को कहा था। उनमे पहली जो चारित्र वाली बात है, वह तो साधु-सतो के सोचने की बात है। अपने में ना तो अभी चारित्र धारण करने की योग्यता है और न निकट भविष्य में भी ऐसी कोई सामर्थ्य दिखाई देती है।

रही बात 'भावो' की, सो उसके तो हम कीडे ही हैं। दिन-रात भावों में ही खेलते हैं। हमारा सारा व्यापार-धंधा 'भावो' पर ही आधारित है। बिस्तर छोडते ही सबसे पहले हमारे हाथो मे शेयर के बाजार भावों का अखबारी पन्ना ही तो होता है। बाजारभावो का जैसा अध्ययन हमे है, वैसा शायद ही किसी को होगा। कोई माई का लाल इसमे हमे मात नहीं दे सकता। बाजारभाव दो तरह के होते है, एक "

धर्मेश ने अमित के द्वारा रात भर सोची हुई भावो की विस्तृत व्याख्या सुनकर पहले तो अपना माथा ठोक लिया। उसे विचार आया कि दिन-रात शेयर के धधे मे मस्त व व्यस्त अमित को शेयर के भाव नहीं दिखेंगे तो और क्या दिखेगा ?

धर्मेश ने हंसकर कहा - "वाह ! वाह !! अमित, वाह !!! तुमने ठीक ही जवाब दिया है। तुमसे यही अपेक्षा थी। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, यह तो तुम्हारी दृष्टि का दोष है। जिसकी आँख पर जैसा हरा-पीला चश्मा चढ़ा होगा, उसे सब वस्तुएँ वैसी ही तो दृष्टिगत होंगी ?"

अमित ने तो बहुत सोच-समझकर उत्तर दिया था। उसे ऐसी आशा बिल्कुल नहीं थी कि उसे धर्मेश के सामने नीची नजर करनी पडेगी।

उसने विनम्र होकर पूछा - "भाई ! इसमे मैंने क्या गलत कहा ?"

धर्मेश ने कहा - "भाई ! तुम्हारे शेयर के भावो से हमे क्या लेना-देना ? बाजार भाव कितने प्रकार के होते हैं - यह तो अर्थशास्त्र का विषय है। हमने तो तुमसे धर्मशास्त्र के संदर्भ मे आत्मा के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, राग-द्वेष भावो के बारे में, वीतराग-सराग, शुद्ध-अशुद्ध भावो के बारे में, सक्लेश-विशुद्ध भावों और आर्त-रौद्र भावो के बारे मे विचार करने को कहा था और तुम समझे शेयर मार्केट के भाव। पर इसमे तुम्हारा कोई दोष नहीं है। इन्द्रियज्ञान का तो स्वरूप ही ऐसा होता है। तत्त्वज्ञान के बारे मे तो बात ही क्या कहे, इन्द्रियज्ञान से तो लौकिकज्ञान भी यथार्थ नही होता। देखो न ! आसमान मे दिखाई देने वाले सूरज-चाँद-सितारे एव उडते पक्षियो का जैसा वास्तविक आकार एव रग होता है, क्या वे हमे वैसे ही आकार व रग मे दिखाई देते है ? नही, वैसे ही दिखाई नहीं देते, क्योकि उनका छोटा-बडा दिखना उनकी दूरी एव अपनी आँख की ज्योति पर निर्भर करता है।

इस उदाहरण से स्पष्ट हे कि - **वस्तुओं के अनुसार ज्ञान नही होता, बल्कि अपने इन्द्रिय ज्ञान की योग्यतानुसार ही वस्तुये जानी जाती है।**

इसे ही शास्त्रीय भाषा मे एसा कहा गया है कि - **ज्ञेयो के अनुसार ज्ञान नहीं होता, बल्कि अपने-अपने प्रगट ज्ञान पर्याय की योग्यता के अनुसार ज्ञेय जाने जाते हैं। अर्थात् जिसकी ज्ञान पर्याय में जिससमय जिस पदार्थ को जिस रूप में जानने की योग्यता होती है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को उसी रूप मे ही जानता है।"**

इसी सिद्धान्त के सहारे धर्मेश ने अपने मन को समझाया कि अमित ही क्या, अमित जैसे और भी असख्य व्यक्ति हैं, हो सकते हैं, जो जिनवाणी के कथन को अपने मिथ्या अभिप्राय के अनुसार ग्रहण करते हैं। अत: वे क्रोध के पात्र नहीं हैं; उन पर रोष नही करना। बेचारो के वर्तमान ज्ञान पर्याय में जैसी योग्यता होगी, वे आपके कथन को वैसा ही तो ग्रहण कर सकेंगे। वे

आप जैसी समझ कहाँ से लायेगे ? जिनकी भली होनहार नहीं होती, उनके साथ ऐसे ही बनाव बनते हैं। साधनो के सद्भाव में भी वे उनसे लाभ नहीं ले पाते। ऐसे लोग तत्त्ववेत्ता ज्ञानियों के हर कथन को अन्यथा ग्रहण करके अपना अज्ञान पुष्ट करके राग-द्वेष करते रहते हैं और ज्ञानीजन इसी सिद्धान्त के सहारे अपने मे उठने वाले सकल्प-विकल्पों का शमन करके शान्त रहते हैं, विशुद्ध भाव ही रखे रहते हैं।

अमित के पल्ले तो अभी भी अधिक कुछ नहीं पड़ा; पर वह चुपचाप सुनता रहा और कुछ सोचता रहा। •

योग्यता का अर्थ

जीव की प्रत्येक समय की पर्याय मे जो राग या वीतराग रूप परिणमन करने की स्वतंत्र शक्ति है, उसे ही उपादान की योग्यता कहते हैं।

उपादान की योग्यता कहो, कार्य सम्पन्न होने का स्वकाल कहो, क्रमबद्ध पर्याय कहो, होनहार कहो, पुरुषार्थ कहो, काललब्धि कहो, पर्यायगत धर्म कहो - सब एक ही बात है सब का एक ही अर्थ है।

जिस द्रव्य मे जब जो भी कार्य होता है वह स्वयं द्रव्य की अपनी तत्समय की उपादानगत योग्यता से ही होता है समय-समय का क्षणिक उपादानकारण पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र हैं स्वयसिद्ध है। उसे पर की कतई/कोई अपेक्षा नहीं है।

यद्यपि कार्य सम्पन्न होने के काल में कार्य के अनुकूल पर द्रव्य रूप निमित्त अवश्य ही होते है, परतु उन निमित्तो का कार्य के सम्पन्न होने में कतई/कोई योगदान नहीं होता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

निमित्त मात्रं तत्र, योग्यता वस्तुनि स्थिता ।
बहिर्निश्चय कालस्तु, निश्चितं तत्त्व दर्शिभि ॥

वस्तु में स्थित परिणमन रूप योग्यता ही कार्य का नियामक कारण है, जिसे अंतरंग निमित्त कहा है। निश्चय काल द्रव्य को बाह्य निमित्त कारण कहा है।" गाथा ५८० गो. जी. का.

७

अमित खानदानी उद्योगपति है। उसके बाप-दादा के जमाने के कई कल-कारखाने हैं, जिनसे उसे अच्छी आय है। साथ ही वह स्वय शेयर बाजार मे बडा ब्रोकर भी है, आमदनी तो इसमे भी खूब है, पर मानसिक शान्ति बिल्कुल नहीं है, हो भी नहीं सकती, क्योकि शेयर बाजार का कुछ स्वरूप ही ऐसा है कि जब भाव चढते हैं तो अनायास ही आसमान छूने लगते है और जब उतरते है तो अनायास ही पाताल तक पहुँच जाते है। कब/क्या होगा, पहले से कुछ ठीक से अनुमान भी नही लगता। इस कारण लोगो के परिणामो मे बहुत उथल-पुथल होती है, हर्ष-विषाद भी बहुत होता है। दोनो ही स्थितियो मे नींद हराम हो जाती है। व्यक्ति सामान्य नही रह पाता। ऐसे लोगो को जब अधिक तनाव होता है तो उन्हे सामान्य होने के लिये नशीली वस्तुओ का सहारा लेना ही पडता है, जो न सामाजिक दृष्टि से सम्मानजनक है और न ही सेहत के लिये हितकर। तथा धार्मिक दृष्टि से तो पापमय परिणाम होने से ये त्याज्य ही है।

अमित इस दोष से नही बच सका। वह भी यदा-कदा मद्यपान कर ही लेता है। जो मद्यपान करता है वह उसके सहभावी दुर्गणो से भी कैसे बच सकता है ? अमित मद्यपान के सहभावी दोषो से भी नही बच सका। शनै.-शनै: वह सातों व्यसनो की गिरफ्त मे आ गया।

धर्मेश को बारम्बार विचार आता कि काश ! किसी तरह अमित को अपनी वर्तमान पाप परिणति की पहचान हो जावे और इसके फल मे होने वाली अपनी दुर्दशा का आभास हो जावे तो फिर निश्चित ही उसके जीवन मे परिवर्तन आ जायेगा। अभी उसे इस पाप परिणति के दुष्परिणामो का पता नहीं है, इस कारण बेचारा दिन-रात पापाचरण मे रचा-पचा रहता है।

जिस तरह एक अबोध बालक विषधर नाग के बच्चे से निर्भय व निर्द्वन्द्व भाव से खेलता है, क्योंकि उस भोले बालक को पता ही नहीं है कि यह विषधर का बच्चा कितना खतरनाक है, कितना प्राणघातक है ? यदि यह क्रुद्ध होकर काट खाये तो मरण निश्चित ही समझो। यदि उस बालक को उस हानि का ज्ञान हो जाये तो क्या वह फिर उससे खेलेगा ?

ठीक इसी तरह अपने विचित्र पाप परिणामो के फल से अनजान व्यक्ति ही उन पाप परिणामों में निरन्तर रमा रहता है और जिसे यह भान हो जाता है कि वे परिणाम काले नाग जैसे जहरीले हैं, तो फिर वह उनसे बचने का उपाय सोचता है।

यही सब सोचकर धर्मेश ने अमित को दो बातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया, पर अमित के पल्ले अभी तक कुछ नहीं पड़ा। पडता भी कैसे ? वह धर्मेश की बात ध्यान से सुनता ही कहाँ है ? वह तो अपनी ही धुन मे रहता है। उसका ध्यान ही कोई दूसरी दिशा मे चल रहा है, इस कारण वह धर्मेश के कहे गये अभिप्राय को समझ ही नहीं पाता। समझना कोई बडी बात नहीं है, पर समझने की रुचि एव तदनुरूप भावो का होना अत्यन्त दुष्कर है।

अमित भले ही धनाढ्य है, परन्तु उसकी प्रवृत्तियों से उसकी पत्नी, पुत्र और परिजन - सभी परेशान है, दु.खी हैं। संसार का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि यहाँ सबको सभी प्रकार की अनुकूलतायें नहीं मिल पातीं, क्योकि ऐसा अखण्ड पुण्य भी किसी के पास नही होता। ऐसे दुःखी जीवो के दुःख को देखकर धर्मात्माओ के हृदय से करुणा की धारा प्रवाहित हुए बिना नहीं रहती, जो उन्हे जगत के हितार्थ सत्य सिद्धांतों का निरूपण करने को प्रेरित करती है।

अमित एव उसके परिवार को मानसिक दुःख से दुःखी देख धर्मेश के हृदय मे सहज करुणाभाव उमड़ पड़ता और वह उन्हे समझाने लगता। जब अमित उसकी बातों की उपेक्षा करता तो स्वयं दुःखी होने के बजाय अपने मन में यह सोचकर संतोष कर लेता कि मेरे समझाने से अमित की समझ सही होने

वाली नहीं है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। जब तक उसकी ज्ञान पर्याय में स्वयं समझने की योग्यता नहीं आयेगी, तब तक मैं तो क्या, भगवान भी उसकी समझ को सही नहीं कर सकते।

ऐसी पक्की श्रद्धा होने पर भी सभी जीवो को भूमिकानुसार बार-बार समझाने का भाव आये बिना नहीं रहता। धर्मेश को जब जैसे विकल्प आते हैं, तद्नुसार वह मित्र के रागवश अमित को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता रहता। उधर अमित भी धर्मेश को धर्म के चक्कर से निकालने की कोशिश करता। यही तो राग की विचित्रता है।

अमित का धर्मेश को समझाने का यह क्रम तबतक चलता रहा, जबतक कि वह भिन्नता की हद से नही गुजर गया। •

८

धर्मेश बचपन से ही सांसारिक भोगो से उदास था। उस समय उसे स्वयं भी उस उदासी के कारण का पता नहीं था, पर उसका मन मित्र-मंडली में, राग-रंग में रमता नहीं था, घर के किसी काम में लगता नहीं था। लौकिक पढाई के प्रति भी वह उदासीन ही रहा करता था, इस कारण वह स्कूल मे अधिक पढ़ भी नहीं सका था।

यद्यपि उसकी लौकिक शिक्षा मैट्रिक तक ही हो पाई थी; पर वह बुद्धिमान बहुत था, प्रतिभासम्पन्न भी था। उसमें जन्मजात कुछ ऐसी बौद्धिक प्रतिभा थी, बाल्यकाल से ही ज्ञान-वैराग्य की कुछ ऐसी पर्यायगत योग्यता थी, जो उसकी बातचीत एव व्यवहार मे स्पष्ट झलकती थी। निश्चित ही यह सब उसके जन्म-जन्मान्तरो के सस्कारो का ही सुफल होना चाहिए, अन्यथा इतनी-सी उम्र मे यह सब कैसे सभव था ?

आकर्षक मुखाकृति, गौरवर्ण सुगठित शरीर, धीर-वीर प्रकृतिवाला असाधारण अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व का धनी धर्मेश एक व्यापारी बाप का बेटा था। उसके पिता का निजी व्यवसाय था, बडी दुकान थी, अच्छा कारोबार था। अत: उनका कहना था कि - धर्मेश का मन स्कूल की पढाई में नहीं लगता तो न सही, कौनसी नौकरी करानी है, जिसके लिये सनद-सर्टिफिकेट या प्रमाण-पत्र चाहिए। खानदानी दुकान है, उसी पर बिठा देंगे। उस पर बैठना पसंद नहीं करेगा तो उसकी मर्जी के मुताबिक नई दुकान करा देंगे। कुछ भी न करे तो भी उसे कोई कमी रहने वाली नहीं है।

बड़ा होने पर धर्मेश दुकान पर बैठने तो लगा, पर दुकानदारी में भी उसका मन नहीं लगा। लगता भी कैसे? क्योंकि उसकी तो होनहार ही कुछ और थी।

धर्मेश की माँ को चिंता हुई कि आखिर इस तरह कैसे काम चलेगा ? फिर कल विवाह तो होगा ही, बाल-बच्चे भी होगे। इन सब का जीवननिर्वाह कैसे होगा ? अभी हमारी मान-मर्यादा से इसके भाई-भाभी भले कोई कुछ न कहें, पर मन में तो आ ही सकता है न ? भाई-भाभियो के भरोसे उन पर भार बनकर जीवनभर तो नही रहा जा सकता। भले ही वे भी छोटे भाई के अनुरागवश कुछ न कहे, परन्तु दूसरो के सहारे रहना कोई गौरव की बात भी तो नहीं है। सभी को आत्मनिर्भर होकर स्वावलबी बनकर रहना चाहिए।

यही परिवार वालों की चिता का विषय था। उन्हे क्या पता था कि धर्मेश तो सच्चा स्वावलबी बनकर जीने वाला है। न केवल स्वय स्वावलबी बनेगा, बल्कि जगत के जीवो को भी सच्चे स्वावलबन का सबक सिखायेगा। अपना जीवन सार्थक व सफल बनायेगा। नाम तो मात्र माता-पिता की रुचि का परिचायक होता है। नामकरण के समय बालक क्या जाने अपने नाम के रहस्य और माहात्म्य को ? फिर भी धर्मेश न यथा नाम तथा गुण कहावत को सार्थक कर दिया।

धर्मेश के पिता ने अपने मन को ओर परिवार को इस प्रकार समझाने का प्रयास किया कि कोई बात नही, जब शादी-ब्याह हो जाएगा, माथ पर जिम्मेदारी आयेगी, तब सब ठीक हो जाएगा। अभी उम्र ही क्या है ? बालक ही तो है। बचपन मे तो बचपना होता ही है। इस उम्र मे हर कोई कवि बनने की धुन मे तुकबन्दी लिख-लिख कर डायरियॉ भरता रहता है, कोई लेखक बनने की धुन मे रात-रात भर जाग-जाग कर कागज के पन्ने लिखता-फाडता रहता है। प्रौढ होने तक भी जिनकी रुचि अस्तित्व मे रहे, वृद्धिगत होती रहे, वे ही कवि और लेखक बनते हैं। सभव है धर्मेश का सत बनने का यह सपना भी सुबह-शाम तक का ही हो। यह तो क्षणिक उफान है, जो समय पाकर स्वत: शान्त हो जायेगा।

यद्यपि धर्मेश अब नाबालिग नहीं रहा था। वह पूरे पच्चीस वर्ष पार कर चुका था, पर माता-पिता को तो साठ वर्ष का बेटा भी आठ वर्ष जैसा लगता है। इस मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार उनकी दृष्टि मे तो धर्मेश अभी भी बालक

ही था। पुत्र व्यामोह में वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि धर्मेश प्रौढ़ और समझदार हो गया है।

धर्मेश की मनःस्थिति दिन-प्रतिदिन जगत-जंजाल से उदास होती चली गई। अन्ततः उसने इस जगत-जजाल को तिलांजलि देने का मन बना ही लिया। उसे ऐसा लगने लगा था कि इस जगत के जजाल में फँसे रहकर मुझसे सत्य की शोध संभव नहीं हो सकेगी, क्योंकि इस काम मे सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक है। बस इसी सोच के कारण वह विवाह के बन्धन में पड़कर अपनी बौद्धिक शक्ति और समय का विभाजन नहीं चाहता था। जबकि उसके माता-पिता जल्दी से जल्दी उसका विवाह करके उसे गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट कर देना चाहते थे और स्वय अपने उत्तरदायित्व से निर्वृत्त हो जाना चाहते थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उसकी शादी की चर्चा चलती रहे, जो धर्मेश को कतई पसद नही थी, बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगती थी। फिर भी वह माता-पिता के दिल को दुःखी नहीं करना चाहता था, इस कारण वह अबतक शादी से स्पष्ट इन्कार करने का साहस नहीं जुटा पाया था।

एक से बढकर एक-अनेक ऐसे रिश्ते आये, जो सभी दृष्टिकोणों से सर्वोत्तम थे, परतु माता-पिता करे तो करें भी क्या ? धर्मेश द्वारा स्पष्ट 'हाँ' भरे बिना उन्हे आश्वस्त भी तो नही किया जा सकता था और इन्कार करना उन्हे इष्ट नही था। इसकारण वे भी टाल मटोल ही करते रहे। पर वे अच्छी तरह जानते थे कि यह बात लम्बे काल तक चलने वाली नही है।

धर्मेश भी आखिर इस तरह कब तक टाल-मटोल करता। अतः अब उसने शादी से सर्वथा इन्कार करने का निश्चय कर ही लिया और मन मे संकल्प कर लिया कि - मैं साफ-साफ कह दूँगा कि मैं शादी नहीं करना चाहता।

फिर वह सोचता है - क्या इतना कह देने मात्र से वे मान जायेंगे ? वे भी इस मामले मे कम समझदार नहीं हैं। वे मुझे समझायेंगे, कहेगे - बेटा ! तीर्थंकरों तक ने पहले शादी-विवाह किए, बेटा-बेटी हुए, पारिवारिक उत्तरदायित्व सभाला, समाज-सेवा की, राज्य-पाट संभाला; तत्पश्चात् दीक्षित हुये, स्व-पर कल्याण किया। यही राजमार्ग है। आत्म-कल्याण करने के लिये

कौन रोकता है? पर उसका भी समय होता है, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है? तीर्थंकरो का जीवन ही तो तुम्हारा आदर्श है, क्या तुम उनसे भी आगे बढ़ना चाहते हो ? -तब मैं क्या करूँगा, क्या कहूँगा उनसे ?

एक क्षण रुककर धर्मेश पुनः सोचता है - आखिर मैं भी तो उन्हीं का बेटा हूँ। मै उन्हे यह समझाऊँगा कि तीर्थंकरों जैसी सामर्थ्य मुझ मे कहाँ ? उनमे असीमित शक्ति होती है, वे सब कर सकते हैं, मुझसे वैसा होना सभव नहीं है। मैं प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के तीर्थंकाल का महामानव नही, बल्कि चौबीसवे तीर्थकर भगवान महावीर के तीर्थकाल का एक क्षुद्र मनुष्य हूँ, अत. क्यो न मै तीर्थकर महावीर को ही अपना आदर्श मानूँ, जब उन्होने भी शादी नहीं की तो मै क्यो करूँ ? इस युग मे उम्र की भी कोई गारटी नही, अत आप मुझे मेरी मर्जी पर छोड दीजिये। और मुझे मगल आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने उद्देश्य मे सफल होऊँ।

मेरे इतना कहने पर निश्चित ही वे मान जायेगे - ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

आखिर उसने अपने सकल्प के अनुसार माँ-बाप को यह विश्वास दिला ही दिया कि हम कुछ भी करें, पर यह न तो शादी ही करेगा और न धन्धा-पानी ही।

इसप्रकार जब धर्मेश के माता-पिता को यह विश्वास हो गया कि धर्मेश अपने इरादे मे पक्का है। उस पर हमारे रोने-धोने का कोई असर नहीं होगा तो वे समताभाव धारण कर चुप हो गये। और तत्त्वज्ञान के सहारे उन्होने धीरे-धीरे अपने मन को धर्मेश की भावनाओ के अनुकूल मोड लिया। फिर जब तक वे जिये, तन-मन-धन से धर्मेश का सहयोग ही करते रहे। धर्मेश भी अपना काम करते हुए पुराणपुरुष श्रवणकुमार की भाँति माता-पिता की सेवा मे पूर्ण समर्पित रहा।

●

१

एक दिन अमित को सुध-बुध खोए बेडरूम के बाहर बरामदे मे बिना बिछौने के ही जमीन पर अर्द्धमूर्च्छित हालत में पड़े-पड़े बड़बड़ाता देख उसकी पत्नी सुनन्दा ने अपना माथा ठोक लिया। और उलाहने के स्वर में भगवान को सम्बोधित करते हुए कहने लगी -

''हे विधाता! यह क्या किया तूने ? क्या तूने मेरे भाग्य मे भी वही सब लिख भेजा है, जो मेरी माँ जीवन भर से भोग रही है और अपने दिन रो-रो कर काट रही है। मैंने ऐसे क्या पाप किये, जिनका इतना बडा दण्ड तूने मुझे दे डाला है ? क्या अब ये दिन भी देखने पड़ेंगे।? आज यहाँ पड़े हैं, कल सड़क की नाली पर पड़े होगे। क्या अब घर की मान-मर्यादा भी बाहर बाजार की गली-गली में ? हे भगवान! पीहर में पिता के इन्हीं दुर्व्यसनो के कारण मेरी माँ और हम सब भाई-बहिनें परेशान रहे और यहाँ पतिदेव भी ऐसे ही मिल गये। अब क्या होगा ?''

भयकर भविष्य की कल्पना मात्र से वह सिहर उठी, इस कारण उसे चक्कर-सा आ गया। और वह गिरते-गिरते बची।

नारी स्वभाव के अनुसार सुनन्दा की उर्वरा चित्तभूमि में बचपन से ही अपने सुखमय जीवन जीने की असीम आशा-लताएँ अंकुरित हो रहीं थीं; पर उसके दुर्व्यसनी पिता और शराबी पति के संयोग में आने से वे आशालताएँ पल्लवित, पुष्पित और फलित होने से पहले ही मुरझा गईं।

यद्यपि पिता की दुर्दशा और माँ का दुःख देख-देख भी वह कम दुःखी नहीं थी, पर उसने उस समय तो किसी तरह अपने मन को समझा लिया था। वह सोचती -

"बचपन का बहुभाग तो बीत ही गया। थोडा समय जो शेष है, वह भी भाई के सहारे बिता लूँगी। सूखे बाँस को सीधा करने के प्रयत्न में उसके टूटने की ही अधिक सभावना रहती है, अतः अब पिता से कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है और अब मुझे यहाँ रहना ही कितना है, वर्ष-दो वर्ष मे मेरी शादी हो जाएगी, नया घर बसेगा, फिर क्या ? खूब आनद से रहेगे।

उसे क्या पता था कि उसके दुर्भाग्य की यात्रा कितनी लम्बी है ? अभी और कबतक ये दुर्दिन देखने पड़ेगे ? पति को इस हालत मे देखकर उसकी आँखो के आगे अधेरा-सा छा गया। मानो उसका सारा भविष्य अधकारमय हो।

जब सुनन्दा की शादी की बात उठी, सगाई का प्रस्ताव आया, उस समय उसका भाई बहुत छोटा था, माँ की घर मे कुछ चलती नही थी, मद्यपायी पिता मनमोहन अपनी स्थूल दृष्टि से केवल बडा घर और लड़के के बाह्य व्यक्तित्व को ही देख-परख पाया। श्रीसम्पन्न होने से ठाठ-बाट तो रहीसो जैसे थे ही, देखने मे लडका भी हृष्ट-पुष्ट और सुदर था। लडकी की राय लेना, उसकी पसदगी पूछना तो उस खान-दान की तौहीन समझी जाती थी। समाज और कुटुम्बियों का सोच यह था कि - पिता कोई पागल थोडे ही होते हैं और अपनी सतान को जानबूझकर कौन गड्ढे मे डालना चाहेगे। फिर कल के छोकरे-छोकरियों को अभी पसंद-नापसद करने की तमीज ही क्या है ? पिता व परिवार को जीवन भर का अनुभव होता है। वे जो भी करेंगे, भला ही करेगे।
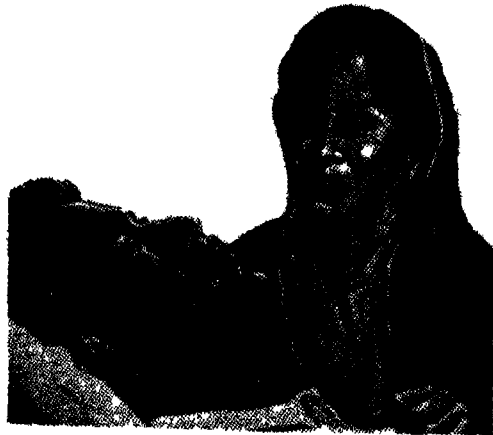
बस इसी मानसिकता के कारण किसी ने भी इस दिशा में स्वय सुनन्दा की राय जानने की कुछ भी पहल नहीं की। आवश्यकता ही नहीं समझी। सब कुछ सुनन्दा के पिता पर निर्भर रहा और उसकी शादी अमित के साथ कर दी गई।

सुनन्दा का बचपन तो जैसा बीतना था, बीत ही गया। अब यौवन की जीवन यात्रा भी उसी तरह के अनिष्ट सयोगो मे ही प्रारंभ हुई। बचपन से ही कल्पना लोक में विचरने वाली सुनन्दा की कल्पनाओ पर, उसकी आशालताओं पर जब तुषारापात हुआ तो वह अर्द्धविक्षिप्त-सी हो गई। उसे अपने चारो ओर अनिष्ट अनिष्ट अनिष्ट के ही दृश्य दिखाई देने लगे, अनिष्ट अनिष्ट अनिष्ट के ही स्वर सुनाई देने लगे।

उसके मुँह से एक ही बात निकलती - "अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कैसे कटेगी मेरी यह पहाड-सी जिदगी इनके साथ ? इन्हे आये दिन पीना है, पीकर पागलो जैसा विवेकहीन होना है, विवेकहीन होकर हिंसक और आक्रामक होना है, कामोत्तेजित होना है और फिर न जाने क्या-क्या करना है ?

इससे इनकी सेहत तो खराब होनी ही है, मानसिक संतुलन भी कितना रख पायेगे ? कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति मे न इनकी बात का विश्वास किया जा सकता है, न व्यवहार का भरोसा। क्या भरोसा कब/क्या कर बैठे ? शराबी की समाज मे इज्जत ही क्या होती है, कद्र ही क्या होती है ? शराब के नशे मे व्यक्ति विवेकशून्य तो हो ही जाते हैं, उनकी वासनाये भी बलवती हो जातीं हैं, फिर न स्वस्त्री-परस्त्री का विवेक, न इज्जत-आबरू की परवाह ।

हे भगवान । यह अच्छा नही हुआ मेरे साथ। ऐसी स्थिति मे मैं तो एक दिन भी नहीं गुजार सकती इनके साथ। अब करूँ तो करूँ भी क्या ? कोई उपाय ही नहीं सूझता।"

मन के एक कोने से आवाज आई - हाँ, एक रास्ता है - तलाक ? मन के दूसरे कोने से प्रश्न उठा - क्या कहा तलाक ? अन्तर के विवेक ने समाधान किया - तलाक की कभी सोचना भी नहीं, तलाक का जीवन भी कोई जीवन

है ? उससे तो मौत ही अच्छी है। तलाकशुदा नारियों को देख कामी कुत्तों की लार जो टपकती है । वे उसे नोचने-चींथने को फिरते हैं। इसकी भी कल्पना की है कभी ? तलाकशुदा यौवना की मांसल देह को देख जो गुडे चारो ओर से गिद्धो की तरह मँडराते हैं, उनकी गिद्ध दृष्टि से बचना कितना कठिन है, यह भी सोचा कभी ? अरे ! नारी दैहिक व मानसिक दोनो दृष्टियो से कितनी कमजोर है, इसकी भी कल्पना कर थोड़ी ! थोडा धैर्य और विवेक से काम कर !

सुनन्दा सोचती है - अब तो मरना ही एक रास्ता है, पर बात मुझ तक ही सीमित हो तो और बात थी, पर अब तो इनकी सतान भी मेरे पेट मे पल रही है। ऐसी स्थिति मे न मर ही सकती हूँ और न जी ही सकती हूँ।

हे प्रभो ! यदि मरती हूँ तो आत्महत्या के साथ एक सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या का महापाप माथे पर लेकर मरना पडेगा, जो साक्षात् नरक गति का हेतु है और यदि जीवित रहती हूँ तो इन परिस्थितियो मे जीऊँगी कैसे ?

लोग कहते हैं - घबडा मत !'आशा पर आसमान टिका है।' उनकी यह बात सच हो सकती है, पर इसी आशा पर तो अब तक जीवित थी, अन्यथा मैं तो पीहर मे ही मर गई होती।

सोचा था - शादी होगी, ससुराल चली जाऊँगी, वहाँ स्वर्गमय वातावरण मिलेगा तो यह सब भूल जाऊँगी, पर वे सब सपने धूल मे मिल गये। एक नया निराशा का पहाड-सा आगे आ गया, जिससे जीवन यात्रा का सारा रास्ता रुक गया। अब किसकी आशा करूँ ? यदि सतान भी इन जैसी ही निकली तो ? आखिर सतान भी तो इन्हीं की है?

हाय ! मेरे तो तीनो पन ही बिगड गये। मैं तो बर्बाद हो गई ! हाय ! हाय !! हाय !!! प्रभो ! नारी जीवन की यह कैसी विडम्बना है ?

इस तरह बड़बडाते वह अचेत-सी हो गई, सो गई। बीच-बीच में कुछ सचेत होती तो फिर वही बड़बडाहट शुरू हो जाती।

१०

सुनदा की छोटी बहिन सुनयना सचमुच सुनयना थी। मृगी के नयनों की भाँति बडे-बड़े काले-कजरारे नयन, शुक के समान नुकीली नाक, जवाकुसुम जैसे रक्तवर्ण अधर-ओष्ठ, मोतियो-सी श्वेत दन्तपंक्ति, इकहरी कंचनवर्णी काया, नितम्बो तक लटकती काली-घुंघराली केशराशि, चमकता-दमकता मुख-मडल, जिसे देख शशि भी शरमा जाये।

जहाँ एक ओर भोली-भाली सुनयना का बाह्य व्यक्तित्व इतना मनमोहक था, वहीं दूसरी ओर वह बेचारी मानसिक रूप से बचपन से ही दुःखी थी।

यह कैसा विचित्र सयोग है पुण्य-पाप का ? यह रूप-लावण्य सचमुच कोई गर्व करने जैसी चीज नहीं है। इतना और ऐसा पुण्य तो पशु-पक्षी भी कमा लेते है, फुलवारियों के फूल भी कमा लेते हैं, वे भी देखने में बहुत सुदर लगते हैं; पर कितने सुखी हैं वे ?

बेचारी सुनयना के बाल्यकाल से ही ऐसे पाप का उदय था कि वह बचपन मे भी बात-बात मे रो देती थी और घटो रोया करती। रोने से उसकी आँखें लाल-लाल हो जाती, गला रुध जाता, मुख-मंडल श्रीविहीन हो जाता। आँसू बहाते-बहाते ही वह मूर्च्छित-सी हो जाती। जागती तो फिर वही रोना-धोना प्रारभ। मानो वह स्वप्न मे भी रो ही रही हो, अन्यथा जागने पर वही रोने की रटन कैसी ?

माँ से उसका इस तरह रोना देखा नहीं जाता था। बेटी के दुःख से वह भी भारी दुःखी हो जाती; पर दिनभर वह उसे कैसे मनाये ? क्या करे ? उसे भी घरेलू कामों से समय नहीं मिल पाता। पिता को पहले तो अपने काम-धंधों से ही फुरसत नहीं, फिर पियक्कड़ और स्वभाव से ही लापरवाह भी। वह क्या समझें संतान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को, कर्त्तव्य को ?

माँ कभी-कभी झुझलाकर कहती - "शायद इसके भाग्य मे तो जीवनभर रोना-धोना ही लिखा है। निगोडी कितनी सुदर लगती है ? कैसी बड़ी-बड़ी आँखे हैं, परतु लगता है रो-रोकर यह अपनी आँखे और सेहत दोनो खराब कर लेगी।"

सुनयना का पिता अपनी पत्नी को परेशानी मे देख कभी-कभार दिलासा देता हुआ कहता - "बच्चे हैं, कभी रोते हैं तो कभी हँसते हैं, खेलते हैं। बच्चो का तो स्वभाव ही ऐसा होता है। इनकी अधिक परवाह नही करनी चाहिए।"

जब बात सिर से ऊपर गुजरने लगती, सुनयना की माँ से नही रहा जाता, तो वह उसे मनाती, कारण पूछती ।

तब रोते-राते तुतलाती भाषा मे सुनयना कहती - "किसी ने मेरे गुड्डे की आँखें फोड दी हैं, टागे तोड दीं हैं, उसके पेट मे चाकू भौंक दिया है, उसे तोड-मरोडकर फेक दिया है। मै रोऊँ नहीं तो क्या करूँ ? सब तहस-नहस कर दिया। मेरा तो सारा खेल ही खत्म कर दिया किसी ने।"

भले ही बालक-बालिकाये अपने मनोगत भावो को भाषा न दे पाये, वाणी से बता न सके, पर अनुभव तो उन्हे भी होता ही है। शास्त्रीय शब्दो में कहे तो सुनयना को उस समय बचपन मे भी इष्टवियोग आर्तध्यान होता था। वह अपने प्रिय गुड्डे के टूटने-फूटने से उसके वियोग मे बिलख-बिलख कर रोया करती थी, जिसमे उसने अज्ञान भाव से इष्ट कल्पना कर ली थी, उसका वियोग उसे असह्य था। इसकारण उसका रोना-धोना बंद ही नहीं होता था।

उस समय उस नादान बालिका को यह पता नहीं था कि **मेरा यह रोना-धोना और दु खी होना आर्तध्यान है, जो तिर्यंचगति के बंध का कारण है।** उस नन्हीं-सी बच्ची की क्या बात कहे ? यह तो अपने को समझदार समझने वाले हमे-तुम्हे आज भी पता नहीं है कि हम अनजाने में कैसे-कैसे पाप भाव कर रहे हैं, करते रहते हैं।

ध्यान रहे, किसी को पता हो या न हो, दूसरो को भी भले पता चले या न चले; पर कर्मबन्धन से कोई नहीं बच सकता। भले ही कोई बच्चा हो या

बूढ़ा, कर्म एवं कार्मांणवर्गणायें किसी को नहीं छोड़तीं। कर्म का बन्धन तो सबको अपने-अपने भावों के अनुसार होता ही है। कर्मों का और रागादि भावों का ऐसा ही सहज सम्बन्ध है।

सुनयना को रोता-बिलखता देख उसकी माँ प्रायः कहा करती-

"बस इतनी-सी बात पर रो-रोकर घर भर दिया है मरी ने! ऐसी रो रही थी मानो इसकी माँ ही मर गई हो। अरे ! गुड्डा टूट गया, गुब्बारे फूट गये तो क्या हो गया ? खिलौने ही तो हैं, इसमें रोने-धोने की क्या बात थी ? दूसरा गुड्डा ला देंगे, उससे खेल लेना।"

माँ की बात सुनकर सुनयना आंसू पोछते हुए चिल्ला पडती - "नहीं दूसरा नहीं, मुझे तो वही चाहिए वही; उस जैसा भी दूसरा नहीं चाहिए। मैने तो उसी से शादी रचाई थी, तुम्हारी नजरो मे वह महज गुड्डा था, पर मेरा तो वही सबकुछ था। एकबार तुम्हीं ने तो कहा था पड़ोसिन से कि हमारे यहाँ लड़कियो की बार-बार शादी नहीं होती, यदि किसी का दूल्हा मर जाता है तो फिर उसे अकेले ही जीवन बिताना पड़ता है।" कहते-कहते सुनयना रो पड़ती।
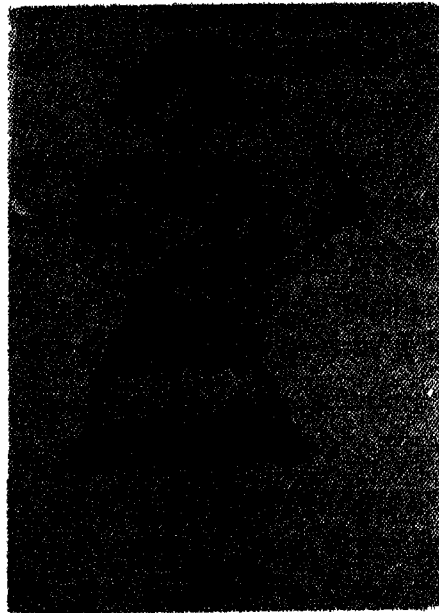
सुनयना की भोली-भाली बातें सुनकर और उसे रोता देख न जाने क्यों माँ की भी आँखें भर आतीं, फिर बनावटी हंसी हंसते हुए वह सुनयना से कहती - "बेटी यह तो गुड्डे-गुड्डियों का खेल है, यह सचमुच की शादी थोड़े ही है। ऐसे खेल तो तुम्हारी तरह हम भी खेला करते थे।"

माँ की बात सुनकर सुनयना बाहर से तो चुप हो जाती; पर मन ही मन वह फिर भी रोती ही रहती, क्योंकि उसे तब भी अपना सर्वस्व लुटा-लुटा सा लगता था। उस समय वह उम्र से भले छोटी थी, पर आत्मा तो अजन्मा है न ? इसकारण पूर्वभवो के संस्कार भी जन्म-जन्म के साथ आते हैं तथा किसी न किसी रूप मे भविष्य से भी वर्तमान जुड़ा ही रहता है। उन्ही पूर्व संस्कारों वश सुनयना बचपन मे भी इष्टवियोग जनित मानसिक पीड़ा को मन ही मन सहती रही, क्योंकि उसकी भोली-भाली बातो की परिवार के लोग परवाह ही नही करते थे। उल्टी उसी की हँसी उडाया करते थे।

वे क्या जानें मानवीय मनोविज्ञान एव बालमनोविज्ञान को ? दूसरो की हसी उडाना जितना आसान है, उसका सही समाधान खोज कर सन्तुष्ट कर पाना उतना ही अधिक कठिन है।

यदि सुनयना का वह खेल सचमुच खेल था, तो हम सब भी तो दुनिया मे वैसा ही खेल ही खेल रहे हैं, फिर हमे भी तो इन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो को खेल ही समझना चाहिए। हम भी बच्चो की तरह ही क्यो रोते-बिलखते है, चीखते-चिल्लाते हैं ? अथवा हर्षविभार होते हैं, खुशियाँ मनाते हैं, हर्ष-विषाद करते हैं ? और ऐसा करके क्यों पुण्य-पाप बाँधते रहते हैं ?

तत्त्वज्ञान से अनजान भोली-भाली ममता की मूर्ति माँ को क्या पता कि - उसकी बेटी सुनयना बचपन मे दस-बीस रुपयो के खिलौने के कारण नही, बल्कि अपने सर्वस्व लुटने के कारण रोया करती थी। अब भी ज्यो-ज्यो उस गुड्डे से जुडी स्मृतियाँ उसके मानस पटल पर उभर कर आतीं हैं, त्यो-त्यो उसके अन्तर्मन मे अधिक राग उमडता और वह फूट-फूट कर रो पडती, क्योंकि उससे इष्टवियोग जनित असह्य मानसिक पीडा सही नहीं जाती।

यह एक मानवीय कमजोरी है, मानसिक रोग है; जिसका तत्त्वज्ञान की औषधि के सिवाय अन्य कोई उपचार ही नहीं है। तत्त्वज्ञान शून्य बेचारी बालिका को बचपन मे क्या पता था कि - लोक की वस्तु-व्यवस्था क्या है और जीवो को कैसी परिणति के क्या-क्या परिणाम भोगने पड़ते हैं ? इन संसारी अज्ञानी मोही प्राणियों को संयोगों में आई लौकिक वस्तु के टूटने-

फूटने या खो जाने से उस वस्तु के अभाव मे रोने-गाने से क्या-क्या हानियाँ होतीं हैं, कैसा-कैसा पापबंध होता है ?

चाहे कोई बालक हो या वृद्ध, ज्ञानी हो या अज्ञानी, नारी हो या पुरुष; कर्म या कार्मणवर्गणाए तो सबको योग और कषायों के अनुसार एक जैसी ही आस्रवित होतीं हैं और बंधतीं हैं। किसी की उम्र का कोई लिहाज नहीं करतीं। और न समझदार-गैरसमझदार में ही फर्क करतीं हैं। कर्मवर्गणाएं तो सबको मिथ्यात्व एवं कषाय भावो के अनुसार बंधती ही हैं। कषायों की हीनाधिकता के अनुसार समय पर सबको अपना फल भी देतीं ही हैं।' इसीलिए तो कहते हैं कि बाल्यकाल से ही यह जानकारी होना जरूरी है कि **कैसे-कैसे भावों से किसप्रकार का कर्मबध होता है और उनका क्या फल होता है ?**

जैसे धनार्जन के काम मे घाटे-मुनाफे का पता लगाने के लिये लेन-देन, आवक-जावक, आय-व्यय का हिसाब-किताब, लेखा-जोखा जरूरी होता है, उसीप्रकार धर्म-अधर्म का सही-सही लेखा-जोखा भी जरूरी है। अन्यथा जैसे धधे मे लापरवाही से दिवाला निकल जाता है, उसीप्रकार धर्म के क्षेत्र मे धर्म-अधर्म की पहचान न होने से अधर्म को ही धर्म समझकर करते रहने से अन्ततोगत्वा निगोद मे जाना पडता है।

धर्मेश इस बात से भली-भाँति परिचित है। अतः उसका सोच यह है कि - अमित की पत्नी सुनन्दा और उसकी छोटी बहिन सुनयना, जो दिन-रात आर्तध्यान मे डूबीं रहतीं हैं, उन्हे सत्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। अभी उन्हे क्या पता कि - पहले कभी ऐसी ही खोटी परिणति रहती होगी, जिसका फल अभी भोग रहे हैं और अब भी यदि इसी स्थिति मे यह दुर्लभ मनुष्य भव बीत गया तो फिर अनन्त काल तक इसी भवसागर में गोते खाने पड़ेंगे। अतः उन्हें एकबार तो सन्मार्ग दिखाना ही होगा। फिर भी यदि उनकी समझ भी अमित जैसी ही रही तो उनकी वे जाने। मैं अपना काम तो करूँगा ही। इस संकल्प के साथ धर्मेश उन्हें सन्मार्ग दर्शन करने की योजना बनाने में जुट गया।

●

११

जहाँ एक ओर सुनयना का सुरागना के समान प्रकृति प्रदत्त रूप लावण्य, वहीं दूसरी ओर ऐसी दयनीय, दुःखद प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियाँ, जिन्हे देख दानवो के दुष्ट हृदय भी द्रवित हो जाये।

कैसा विचित्र खेल है इन कर्मो का और तज्जन्य औदयिक भावों का ? परतु यह कोई नई बात नही है। पुराणपुरुष श्रीपाल इसके साक्षी हैं। जहाँ एक ओर वे कोटिभट, तद्भव मोक्षगामी थे, वही दूसरी ओर उनका कुष्ठरोग से पीडित होना और राज-पाट से निष्कासित हो निर्जन जगलो मे भटकना और दर-दर की ठोकरे खाना कर्मों की विचित्रता को सिद्ध करता रहा है।

सर्वगुण सम्पन्न होते हुये भी सुनयना का बाल्यकाल तो रोते-रोते बीता ही था, यौवन भी आशा-निराशा रूप से देह के झूले मे झूलते रहने से व्याकुलता मे ही बीता। यह भी कर्मों की ही विचित्रता हैं।

पीढियो से धनाढ्य होने पर भी दुर्व्यसनो मे लिप्त हो जाने से अभावो के गहरे गर्त मे पडा पिता, सब ओर से पीडादायक अनिष्ट सयोगो से घिरी बडी बहिन सुनन्दा, गाय के समान अत्यन्त भोली-भाली, दीन-हीन, ममता की मूर्ति माँ, जिसका कोई भविष्य नही, ऐसा नाबालिग छोटा भाई - ऐसी प्रतिकूल प्रतिस्थिति मे सुनयना का न कोई सरक्षक, न कोई सहारा।

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' की उक्ति को याद कर-करके आहे भरती सुनयना सदैव सशक भयभीत मृगी की भाँति अपना आश्रय खोजती यत्र-तत्र भटकती हुई अपने दुर्दिन बिता रही थी।

जब पाप का उदय आता है तब परिस्थिति बदलते देर नहीं लगती। जो अपने गौरव के हेतु होते हैं, सुख के निमित्त होते हैं, वे ही गले के फंदे बन जाते हैं।

सुनयना का शारीरिक सौन्दर्य, जिसपर उसके माता-पिता एवं कुटुम्ब-परिवार को गर्व था, आज वही सौन्दर्य उसके लिये धर्मसंकट बन गया है।

दुर्व्यसनों के कारण पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा धूलधूसरित एवं प्रभाव क्षीण हो जाने से असामाजिक तत्त्वो की पड़ती काली छाया और गिद्धदृष्टि की शिकार हो जाने की आशंका से सुनयना सशक और भयातुर भी रहने लगी थी। अपने शील की सुरक्षा में सतत् सावधान सुनयना अपने सौभाग्य की प्रतीक्षा कर रही थी।

वह सोचती - लड़कों ने तो जिस कुल में जन्म ले लिया, उन्हें पूरा जीवन वहीं बिताना पड़ता है, पर लड़कियाँ इस मामले में सौभाग्यशालिनी होती हैं। उन्हे जीवन में दो बार भाग्योदय का अवसर प्राप्त होता है। एक बार तो तब, जब वह किसी बडे घर मे जन्म लेकर बडे बाप की बेटी बनती है। कदाचित् दुर्भाग्यवश किसी साधारण घर मे जन्म लेना पड गया तो पुनः दूसरा भाग्योदय का अवसर उसे तब मिलता है, जब उसकी शादी होती है, वह किसी बडे घर की बहू बनती है।

मेरा पहला अवसर तो यो ही चला गया। बड़े घर मे जन्म लेने के बावजूद भी मुझे उसका लाभ नहीं मिल पाया। मेरे जन्म लेने के साथ ही मेरे पिताश्री कुसगति मे पड़ गये। धीरे-धीरे एक-एक दुर्व्यसन से घिरते चले गये और अपने ही लक्षणो से बीस वर्ष के अन्दर ही करोड़पति से रोड़पति बन गये, स्वर्ग जैसे सदन के निवासी सड़क पर आकर खडे हो गये।

अब दूसरा अवसर शेष है। पर यह आशा भी दुराशा मात्र लगती है। इसमें भी अधिकांश तो निराशा ही हाथ मे आने वाली है; क्योंकि दहेज दानव इस संभावना पर भी संभवतः पानी फेर देगा।

सुनयना का यह सोचना गलत भी नहीं है; क्योंकि भले ही वह सर्वगुण सम्पन्न है, पर उसके गुणों से न तो श्रीमन्तों का पेट भरता है और न पेटी ही। दूसरे, लक्ष्मीवालों की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी तो आड़े आता है।

सैंकड़ो रिश्ते आये, पर इन्हीं सब कारणो से अब तक कहीं भी पार नहीं पड़ी, बात नहीं बनी। सभी का यही कहना था - लडकी सुंदर है, सर्वगुण सपन्न भी है, यह बात तो सर्वोत्तम है, परन्तु ।

बार-बार योग्य-अयोग्य सभी तरह के व्यक्तियों के सामने अपना प्रदर्शन करते-करते और बेतुके, बनावटी, ऊँट-पटाग प्रश्नो के उत्तर देते-देते तथा अपमान के घूट पीते-पीते बेचारी सुनयना इतनी ऊब गई थी कि उसे अब ऐसे दु खद जीने से मरना सुखद लगने लगा था। पर पता नहीं, क्या सोच-सोच कर वह अपनी जीवित लाश को ढो रही थी।

उसने एक बार प्रवचन मे सुना था कि - आत्मघाती महापापी -आत्मघात करनेवाला महापापी होता है। आत्मघात करनेवाले की सुगति नही होती कुगति ही होती है, इसीकारण उसने निश्चय कर लिया कि जो पाप कर्म मैंने कमाये हैं, बाँधे है, उन्हे भोगना तो पडेगा ही, फिर इसी जन्म मे ही क्यो न भोग लिये जाये ? बेमोत मरने से ये कर्म मेरा पीछा छोड़ने वाले तो हैं नही । अत: भला-बुरा जो भी हो रहा है, उसे मात्र जानते-देखते चलो। उसमे तन्मय मत होओ - यही सब तो सुना था उस दिन प्रवचन मे।

कहते हे - 'घूरे के भी दिन फिरते हैं' तथा 'आशा से आसमान टिका है।' 'खुरपी को भी टेढा बैट तो मिलता ही है।' इसी आशावादी दृष्टिकोण से और आत्महत्या के पाप के भय ने सुनयना को आत्मघात करने से बचा लिया।

जिसप्रकार पाँचो उगलियाँ एक जैसी नही होती, उसी प्रकार सभी व्यक्ति भी एक जैसे नही होते। एक युवक ऐसा भी था, जो पढा-लिखा, प्रतिभाशाली, देखने-दिखने मे आकर्षक व्यक्तित्व का धनी और अमानवीय दोषो से कोसो दूर था। धन की चाह और जरूरत किसे नही होती ? पर किसी की मजबूरी का अनुचित लाभ उठाना उसकी वृत्ति में नहीं था। प्रथम परिचय मे ही वह सुनयना के बाह्य व्यक्तित्व से आकर्षित हो गया। धीरे-धीरे परिचय प्रीति मे बदल गया। वह सुनयना की सरलता, सज्जनता तथा प्रतिकूल परिस्थितियो मे सहनशीलता तथा चित्त की प्रसन्नता जैसे गुणों से अधिक प्रभावित था। इन्ही सब कारणों से वह उसके मन में बस गई थी।

यदि वह चाहता तो किसी भी बड़े घर से उसे भी दो-चार लाख मिलना कोई बड़ी बात नहीं थी, पर यह उसके खून में ही नहीं था। सुनयना भी उसे देखते ही, अनजाने में ही उसकी ओर सहज आकर्षित होती चली गई, मानो उसके साथ उसका जन्म-जन्म का रिश्ता हो।

नवयुवक के पिता ने भी अन्तर्जातीय संबंध होते हुए भी बेटे सुदर्शन की भावनाओं को पहचान कर कुटुम्ब परिवार की असहमति और अन्तर्जातीय संबंध के विरोध की भी परवाह न करके सुनयना को अपने घर की बहू बना लिया।

सुदर्शन का बाह्य व्यक्तित्व तो सुदर्शन था ही, वह सदाचारी और धन सपन्न भी था। सुदर्शन जैसे पति को पाकर सुनयना मन ही मन प्रसन्न हो रही थी, पर अचानक उसके मानस पटल पर बचपन की वह स्मृति रेखा उभर आई, जब खेल-खेल मे उसका गुड्डा क्षतिग्रस्त कर दिया गया था। इसकारण उसका मन कुछ-कुछ खिन्न हो गया। तत्काल उसने अपने मन को समझाया वह तो गुड्डे-गुड्डियो का खेल था, खेलो मे तो ऐसा होता ही है, उसमे खिन्न होने की क्या बात है। यह सोचकर वह सभल गई। यद्यपि उस समय वह खूब रोई थी, क्योकि तब लडकपन जो था। उस समय वह खेल को ही सचमुच की शादी समझती थी, इस कारण उस समय उसका रोना स्वाभाविक ही था। दूल्हा दुर्घटनाग्रस्त हो जाये और दुल्हन की आँख मे आँसू भी न आयें - ऐसा कैसे हो सकता था ?

सुदर्शन तो स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था, सुनयना भी सरलस्वभावी थी, भारतीय नारी के सभी गुण उसमे थे। पति की परछाईं बनकर रहना ही वह अपना धर्म समझती थी।

सुदर्शन ने सलाह के रूप मे सुनयना से कहा - "गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने के पूर्व सर्वप्रथम किसी ऐसे पावन तीर्थ की वंदनार्थ जाने का कार्यक्रम क्यो न बनाया जाये, जिसमें 'एक पंथ दो काज' हो जायें ? तीर्थवंदना भी हो जाये और साथ मे घूमना-फिरना भी।"

सुनयना ने सुदर्शन की बात का समर्थन करते हुए कहा - " मैं आपकी इस सलाह से पूर्ण सहमत हूँ। आपका विचार अति उत्तम है। 'हनीमून' के नाम पर कोरे आमोद-प्रमोद और सैर-सपाटे से क्या लाभ ?"

सुदर्शन ने कहा - "मेरे मन मे मात्र यही सकोच था कि तुम्हारी सखी-सहेलियाँ कही यह कहकर तुम्हारा मजाक न बनाये कि इस युग मे यह सतयुगी अवतार कहाँ से आ टपका जो हनीमून की जगह तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा है। तीर्थ यात्राये कोई अभी करने के काम है ? ये तो बुढापे की बाते हैं।"

सुनयना ने सुदर्शन के सकोच को दूर करते हुए कहा - "ऐसी कोई बात नहीं है, फिर कहनेवालो का क्या ? जो जिसके मन मे आये कहता रहे। हम किसी के कहने की परवाह क्यो करे ? हम कोई गलत काम करने को तो जा नही रहे हैं जो ऐसा सकोच करें। धर्म करने की कोई निश्चित उम्र नही होती। धर्म तो जीवन का अभिन्न अग होना चाहिए। क्या पता कब/ क्या हो जाये ? अत मे धर्म ही तो हमारा सच्चा साथी है।"

सुनयना की ऐसी समझदारी की बात सुनकर सुदर्शन मन ही मन बहुत खुश हुआ। उसे ऐसा लगा कि सुनयना सचमुच सच्ची भारतीय धर्मपत्नी है, तभी तो धर्म कार्यों मे साथ दे रही है।

सुनयना ने कहा - "आप चिन्ता न करें, कोई कुछ नहीं कहेगा। कहेगा भी तो कह देगे- हमारा तो यही हनीमून है, दाम्पत्य जीवन का शुभारभ भी शुभकार्य से ही होना चाहिए।"

इसके लिए उन्होंने दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा पर जाने का निश्चय कर लिया। एक सप्ताह की तीर्थयात्रा सानन्द सम्पन्न हुई। वहाँ से लौटते समय धर्मस्थल से नीची-ऊँची घाटियो का आनन्द लेते हुए चारो ओर हरे-भरे दृश्यो को देखते हुए भगवान बाहुबली के गीत गुनगुनाते कार में बैठे मस्ती से आ रहे थे कि अचानक कार का ब्रेक फेल हो गया। ड्राइवर ने कार संभालने की काफी कोशिश की, पर कार काबू के बाहर हो गई, आउट ऑफ कन्ट्रोल हो गई। उनकी समझ में आ गया कि अब तो भगवान का नाम लेने के सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

सुदर्शन को अचानक सुनयना का वह वाक्य स्मरण हो आया, जो अभी-अभी आठ दिन पहले ही उसने कहा था कि - **धर्म करने की उम्र कोई निश्चित नहीं होती, धर्म तो हमारे जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्या पता कब/क्या हो जाये ?** बस तुरंत सावधान होकर ध्यानमुद्रा में दोनों मन ही मन णमोकार मंत्र पढने लगे।

देखते ही देखते कार वृक्षो से टकराती बल खाती एक गहरे गर्त में गिरने ही वाली थी कि उसका एक फाटक खुल गया और सुनयना वृक्ष की डाल मे अटकने से बाल-बाल बच गई और गाड़ी गर्त मे गिरने से सुदर्शन के उसी समय प्राण-पखेरू उड गये।

होनहार की बात है कि एक ही सीट पर एक साथ बैठे युगल दपत्ति सुनयना और सुदर्शन मे सुनयना साधारणसी चोट खाकर बच गई और सुदर्शन का गिरना-मरना एक ही साथ हो गया। यह भी कर्मों की कैसी विचित्रता है ? जिसकी आयु शेष है, उसे कोई नहीं मार सकता तथा जिसकी आयु के निषेक समाप्त हो गये हैं, उसे कोई बचा नहीं सकता।

सुनयना के दुर्भाग्य का अभी अन्त नहीं आया था। तभी तो इतना सुन्दर संबंध मिलने पर भी उसके भाग्य में पति का सुख नहीं था। शादी हुए चंद दिन ही हुए थे कि उसके प्राणों से प्यारे पति का इस दुःखद दुर्घटना में देहावसान हो गया और सुनयना जीवन भर के लिए इष्टवियोग जनित आर्तध्यान के कुचक्र में फंस गई। •

१२

नारी के जीवन मे सबसे बडा दु:ख उसके वैधव्य का होता है। इससे अधिक दु,खद स्थिति नारी के जीवन में अन्य कोई नहीं होती। दुर्दैव से यदि यह दु:खद परिस्थिति विवाह के तुरन्त बाद ही बन जाये, तब तो मानो उस पर विपत्तियो के पहाड ही टूट पडते हैं। पति के अभाव मे सारा जीवन अधकारमय तो बन ही जाता है, साथ ही और भी अनेक विपत्तियो की घनघोर घटायें घेर लेतीं हैं। पति के परिवार और पडौसियो का दुर्व्यवहार तथा पीहर की उपेक्षा उसे जीते जी नरक मे धकेल देते हैं, उसका जीना ही दूभर कर देते हैं।

महिलाओ मे इतनी अक्ल ही कहाँ होती, इतनी दूरदर्शिता भी कहाँ होती है? ऐसा कहकर सम्पूर्ण नारी जाति को अपमानित तो नही किया जाना चाहिये, पर अधिकाश महिलाओ की ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति है कि उन्हे दूसरी महिलाओ का दु ख-दु ख सा ही नही लगता। दूसरो पर क्या बीत रही है, इसका अहसास ही नहीं होता। इस मनोवृत्ति में आमूलचूल परिवर्तन लाने की महती आवश्यकता है। अन्यथा नारी जाति इसीतरह अपमानित और प्रताडित होती रहेगी। जैसी कि दुर्घटना मे सुदर्शन के दिवगत हो जाने से सुनयना की दुर्गति हुई।

सुनयना के सुसराल पक्ष से सहानुभूति और सहारा मिलने के बजाय सब ओर से हृदय विदारक वाक्यावली ही सुनाई देने लगी। तानो के वचन-बाण उसके हृदय को बेधते ही रहते।

सासूजी कहती - "डायन है, डायन। दुष्टा ने देहरी पर पाँव रखते ही खा लिया मेरे लाल को।"

हाँ मे हाँ मिलाते पत्नि भक्त श्वसुर साहब कहते - "कुलक्षणी है, कुलक्षणी! ज्योतिषीजी ने भी क्या देखकर सजोग बैठा दिया? देखो न। घर मे पाँव पड़ते ही बेटा तो जीवन से हाथ धो ही बैठा, शेयर मार्केट की भी क्या हालत हो गई? लाखो की चोट लग गई शेयरो के धधे मे।"

अंधविश्वासी जेठजी अलापते - "ये तो जो हुआ सो हुआ ही, इसके पदार्पण से मेरा तो हाल ही बेहाल हो गया। हत्या के अपराध में चल रहे फौजदारी मुकद्मे में मैं सुप्रीम कोर्ट से भी हार गया हूँ। अब आजीवन कारावास तो पक्का ही समझो। फांसी की सजा भी हो सकती है।"

ननद कहती - "जब से इस कलमुँही का मुँह देखा, तभी से मेरा घरवाला दिन-दूनी रात-चौगुनी पीने लगा है। और पहले तो मुझसे थोड़ा-बहुत प्रेमालाप कर भी लेता था, पर अब तो मेरी ओर झाँक कर भी नहीं देखता। जब देखो तब इसी के गुण गाया करता है। निकालो डायन को इस घर से। पता नहीं और किस-किस को वशीभूत कर लेगी यह ?

पन्द्रह दिन मे सुदर्शन भैया पर तो इसने ऐसा जादू कर दिया था, उनका ऐसा मन मोह लिया था कि कुछ पूछो मत। मुहल्ले वाले भी इसकी तारीफ करते नहीं थकते। अडौसी-पड़ौसी स्वर्गीय सुदर्शन भैया को याद करने के बजाय, उनके वियोग पर दुःख प्रगट करने के बजाय इसके प्रति ही सहानुभूति दिखा-दिखा कर इसके ही दुःख को रोया करते हैं।

ऐसी कौनसी जादुई विद्या है इसके पास ? कौनसा मोहिनी मत्र जानती है यह, जो सभी लोग इसकी बातो से, व्यवहार से प्रभावित हो जाते हैं।"

इस तरह सुनयना के सुसराल पक्ष के दुर्व्यवहार ने उसके वैधव्य के गहरे घावो पर नमक छिड़कने का ही काम किया। न केवल सताया ही, अमंगल के भय से घर से भी निकाल दिया। सब तरह से बे-सहारा सुनयना बे-मौत मरने के बजाय माँ की शरण मे चली गई।

पुरातन पन्थी नारियाँ अपने अन्धविश्वास के कारण अपनी ही नारी जाति की कितनी कैसी वैरिन बन जातीं हैं। कोई सोच भी नहीं सकता। और जोरू के गुलाम पुरुष भी उनकी हाँ में हाँ मिलाकर उनका साथ देने में दो कदम आगे हो जाते हैं।

मांगलिक माने जाने वाले विवाह आदि के नेग-दस्तूरों में महिलायें ही विधवा नारी की परछाईं से परहेज करने लगतीं हैं। नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं को भी विधवा के पास नहीं फटकने देतीं।

नारियो की ऐसी दयनीय दुर्दशा देख, उसे उपेक्षित और असहाय देख निम्न स्तर का पुरुष वर्ग भी उसकी मजबूरी का लाभ उठाने के लिए अपने हथकंडे चलाने लगता है। कामी पुरुषो की कुदृष्टि उन्हें शान्ति से जीने नहीं देती।

दुर्दैव की मारी ऐसी नारियाँ शिकारियो के शिकजे से छूटी भयभीत मृगी की भाँति माँ की ममता को याद करके यदि पीहर की शरण मे पहुँच जाये तो पीहर के लोग भी उन्हे अपने माथे का बोझ समझकर जल्दी से जल्दी अपने बोझ को कम करने के लिए, अपनी बला टालने के लिये उनका पुनर्विवाह करने की सोचने लगते हैं।

यद्यपि माँ में तो बेटियो के प्रति वैसे भी ममता होती है, यदि बेटी बाल-विधवा हो जाय तब तो कहना ही क्या है ? परन्तु वह बेचारी अकेली कर भी क्या सकती है ? जब भाई-भाभियाँ और पिता महोदय मिलकर एक मत हो जाये। ऐसी स्थिति मे माँ को मौन रखने के सिवाय अन्य उपाय ही क्या है ? परिस्थितियो से समझौता कर माँ द्वारा भी मजबूरी मे पुनर्विवाह को मान्यता दे दी जाये तो भी बेचारी विधवा नारी की समस्या समाप्त नही होती, क्योकि विधवा से कौन कुँवारा ब्याह करना चाहेगा ? उसे तो कोई विदुर ही अपना सकता है। कम उम्र से विधुर भी विधवा को सहज स्वीकार नही करते, क्योकि जिन्हे एक से बढकर एक कुमारियाँ मिल सकती हैं, भला वह विधवा से शादी क्यो करेगा ? अधविश्वास के कारण उसे यह भी आशका बनी रहती है कि 'यदि इसके भाग्य मे पति होता तो पहला ही क्यो मरता ? सम्भव है यह पुन विधवा हो जाय ? इस स्थिति मे मैं अपनी जान को जोखिम में क्यो डालूँ ?' इस आशका से भी विधवाओ का योग्य व्यक्ति के साथ पुनर्विवाह होना अत्यन्त कठिन होता है।

इन सब कारणो से वे सब लोग मिलकर उसे किसी अधेड या अध बूढे विधुर के माथे मढकर बिना प्रसव पीडा सहे ही उसे छोटी-सी उम्र मे ही अनेक बेटे-बेटियो की माँ बना देने पर तुले जाते हैं।

ऐसा दुर्व्यवहार करते समय ऐसे दुष्ट प्रकृति के नर-नारी यह भूल जाते हैं कि - काश ! यह दुर्घटना हमारे ऊपर अथवा हमारी प्राण प्यारी बहन-बेटियो पर ही घट जाये और हमारे साथ भी दूसरो के द्वारा ऐसा ही व्यवहार किया जाने लगे, तब हम पर क्या बीतेगी ? और ऐसा होना कोई असम्भव तो है नहीं। कोई भी व्यक्ति कभी भी दुर्घटना का शिकार हो सकता है।

इसीलिये तो किसी नीतिकार ने कहा है -

'जो या जैसा दूसरों का व्यवहार हमें स्वयं को अच्छा न लगे, वह या वैसा व्यवहार हमें दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए।'

सुनयना ने अपने कौमार्य काल मे, अपनी बीस वर्षीय छोटी-सी जीवन यात्रा मे आस-पास रहने वाली अनेक विधवाओं की दुर्दशा अपनी आँखों से देखी थी। इसकारण उसके हृदय में विधवाओं के प्रति बहुत करुणा एवं सहानुभूति की भावना थी। उसे क्या पता था कि ये दुर्दिन उसी के जीवन में आने वाले है।

सुहागरात के दिन जब सुदर्शन ने प्रेमालाप करने के बजाय सुनयना को यह समझाने की कोशिश की कि - 'कल्पना करो ! कदाचित् किसी दुर्घटना से हम दोनों सदा-सदा के लिए बिछुड़ जाये, अकेले रह जाये, तो .. ?'

सुनयना सुदर्शन की इस अप्रिय, कर्णकटु बात पर कुछ सोचे - यह तो सभव ही नहीं था, वह तो ऐसी बात सुन भी नहीं सकी। अत: वाक्य पूरा कर पाने के पहले ही सुनयना ने सुदर्शन के मुँह पर हाथ रख दिया।

सुनयना की आँख मे आसू आ गये, वह आसू पोछते हुये बोली - "अब कहा सो कहा, भविष्य मे कभी ऐसा शब्द भी मुँह पर मत लाना। मैं ऐसा सुन भी नही सकती। ऐसे सुखद प्रसंग में आप ऐसी दु खद बाते क्यों करते हो ? ऐसी अपशकुन की बात तुम्हारे मन मे आई ही कहाँ से ?"

उदास भाव से नाराजी प्रगट करते हुए सुनयना ने पुन: कहा - "आप ऐसी बाते करेंगे तो मैं आपसे बात ही नहीं करूँगी।"

सुदर्शन ने कहा - "मैंने ऐसा क्या कह दिया ? तुम बिना कारण ही रूठ गईं। अरे ! वैसे तो सब अच्छा ही होने वाला है, परन्तु देखो सुनयना ! 'सौभाग्य को दुर्भाग्य में पलटते देर नहीं लगती। अत: दूर दृष्टि से जीवन के प्रत्येक पहलू पर गभीरता से विचार कर लेने में हर्ज ही क्या है ? अपने सोचने या कहने से दुर्घटना का क्या संबंध ? होता तो वही है जो होना होता है। यदि हम हर परिस्थिति का सामना करने के लिए पहले से सजग व सावधान रहें तो ऐसी विषम परिस्थिति मे 'किम् कर्तव्य विमूढ़' नहीं होते। अत: न सही आज, पर समय रहते सचेत

हो ही जाना चाहिए। बस इसी विकल्प से मैंने इस चर्चा को महत्त्वपूर्ण व उपयोगी समझकर छेड़ दिया। तुम्हें इतना बुरा लगेगा - ऐसा समझता तो आज न कहकर फिर कभी कह लेता। अस्तु कोई बात नही। तुम इन शकुन-अपशकुन के दकियानूसी विचारो को छोडो और जो बाते तुम्हें अभी अच्छी लगे, वही कहो। मैं अपने शब्द वापिस लिये लेता हूँ। पर तुम्हे सदैव हिम्मत से काम लेना सीखना चाहिए और हर परिस्थिति का सामना करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिए।"

कोई कटु सत्य सुन सके या न सुन सके, सह सके या न सह सके, पर जो सुख-दु.ख होना होता है, वह तो होकर ही रहता है।

सुनयना कुछ ही समय मे उस दुर्घटना का शिकार हो गई, जिसे वह सुहागरात के दिन सुन भी नही सकी थी। अब वे सारे दृश्य जो उन दोनो के बीच बात-चीत करते घटे थे, सुनयना की आँखो मे उतर आये।

सुनयना दुर्घटना मे पति को दिवगत देख मूर्छित-सी हो गई थी, अवाक् रह गई थी। रोना चाहकर भी रो नहीं पा रही थी। उसके आँसू ढलकने के बजाय अन्दर ही अन्दर सूख गये थे। आँखे फटीं की फटीं रह गई थी। जब तक नही रो सकी तो नही रोई। जब रोना चालू हुआ तो ऐसी रोई कि उसे रोता देख सारा वातावरण शोक सतप्त हो गया। सभी उपस्थित प्राणी उदास हो गये।

सुदर्शन के आकस्मिक निधन से सुनयना का स्वप्निल ससार उजड चुका था। उसके सारे मनोरथ मन के मन मे ही रह गये थे। उसकी सारी मनोकल्पनाये सुहागिन बनते-बनते बिखर गई।

नारी का सुहाग सदा के लिये छिन जाना नारी जीवन का सबसे बडा अभिशाप है। वह धैर्य धरे भी तो कैसे धरे ? उसे तत्त्वज्ञान का बल तो कुछ था नही, जिसके बल पर बडी से बडी प्रतिकूलताओ मे भी समतापूर्वक रहा जा सकता है।

उसकी आँखें झरने बन गई, जिनसे दिन-रात आँसू झरते ही रहते। गीली आँखें कभी सूखती ही नही। यह हालत देख समय-समय पर माँ की ममता उमड पड़ती। समझाते-समझाते माँ स्वयं भी फूट-फूट कर रो पडती।

सुनयना का दु:ख किसी से देखा नहीं जाता। आस-पड़ौस की, मुहल्ले की महिलाये उसे समझाने, सहानुभूति दिखाने आतीं, पर उसके विलाप को देखकर स्वयं रो पड़ती। समझाने का असफल प्रयास करतीं, पर स्वयं के आँसू भी नहीं रोक पातीं।

अभी शादी हुए चन्द महीने भी नहीं बीत पाये थे, हाथों की मेहदीं भी तो नही छूटी थी। मेहदी रंग ला भी नहीं पायी थी कि दुर्दैव ने उसके पहले ही उसके हाथो की मेहदी और माथे का सिंदूर पोंछ डाला।

माँ के गले से चिपकी सुनयना रोते-रोते इतनी थक जाती कि उसका अंग-अग शिथिल हो जाता। सिसकियाँ भरते-भरते वह मूर्छित-सी होकर माँ की गोद मे ही लुढक जाती। यह कोई एक दिन की बात नही थी। ऐसे रोते-बिलखते उसे महीनो बीत गये।

सुनयना के सास-श्वसुर ने तो यह कहकर छुट्टी पा ली थी कि - "अभागिन ने नागिन बनकर ब्याह होते ही हमारे लाल को डस लिया। हम तो कलमुँही का मुँह भी नही देखना चाहते।"

बस, एक मात्र माँ का ही सहारा था। माँ बेचारी पहले से ही चारो ओर से परिस्थितियो से घिरी थी। एक और नया सकट आ पड़ा उसके माथे पर। बडी बेटी सुनन्दा का पति शराबी, बेटा अपग, पति मनमोहन भी जीवन भर दुर्व्यसनों से घिरा रहा है।

यह तो वह या सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं कि - उसने इस स्वार्थी और वासनामयी दुनियाँ मे अपने शील को सुरक्षित रखते हुए अपनी संतान को कैसे पाला-पोसा है। यदि उसमे धैर्य न होता और धर्म का सहारा न होता तो वह कभी की अपनी सतान सहित अकाल मौत मरकर परलोक सिधार गई होती।

धीरे-धीरे माँ स्वय तो सहज हुई ही, सुनयना को भी सहज करने का प्रयत्न किया। **काल की गति विचित्र होती है, वह भी धीमें-धीमें मानव को सहजता की ओर ले जाने में सहयोग करती है। अच्छी-बुरी स्मृतियाँ काल के गाल में सहज समाती जातीं हैं।**

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों सुनयना भी दुर्भाग्य के झटके झेलते हुये सहज होती चली गई। •

१३

धर्मेश ने कहा - "मनमोहन ! तुम अपनी भूल मानो या न मानो, पर सच यह है कि सुनन्दा और सुनयना जैसी सर्वगुण सम्पन्न बेटियो को और भोली-भाली ममता की मूर्ति उनकी माँ मोहिनी को इस दु·खद और दयनीय स्थिति मे पहुँचाने मे तथा इकलौते बेटे जीवन्धर को पोलियो से पीडित और अनाथ बनाने मे सबसे अधिक दोष यदि किसी का है तो तुम्हारा ही है। तुम्हारे कारण ही तुम्हारी पत्नी को तुम्हारे जीते जी एक विधवा जैसा जीवन जीने को मजबूर होना पडा और बाप के होते हुये बेटे को अध्ययन के लिए अनाथालय की शरण मे जाना पडा है।

जो व्यक्ति अपनी पत्नी और सन्तान का सही ढग से भरण-पोषण, देख-रेख और सरक्षण जैसे अनिवार्य कर्त्तव्य का पालन नही कर सकता, उसे शादी-ब्याह रचाकर पत्नी और सतान के सुख की कल्पना करने का भी अधिकार नही है। अधिकार और कर्त्तव्य दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है। उन्हे अलग नही किया जा सकता। कर्त्तव्य भूलते ही अधिकार भी स्वत· ही समाप्त हा जाता है।

तुमने दुर्व्यसनो मे पडकर अपने परिवार को जिस दु·ख के सागर मे डुबो दिया है, उस दु ख को तुम्हारा यह रोना-धोना, दु खी होना, पश्चाताप करना, कम नही कर सकता।"

धर्मेश की बाते सुनकर मनमोहन भावुक हो उठा, स्वय को सभाल न सका। वह औरतो की तरह फूट-फूट कर रोने लगा - पश्चाताप के आँसू बहाते हुए बोला -

"ऐसा कौनसा पाप है जो मैंने नही किया। पिता की करोडो की सम्पत्ति को मैंने दुर्व्यसनो मे पडकर पानी की तरह बहा दिया, यो ही बर्बाद कर दिया

और माता-पिता को मानसिक क्लेश पहुँचा-पहुँचा कर उनका जीना दूभर कर दिया। मेरे कारण ही मेरे पिता हृदयाघात से परलोक सिधारे। माँ की ममता को मैंने कुचला, उनके वैधव्य का कारण मैं बना। पत्नी, पुत्रियों और पुत्र के जीवन के साथ खिलवाड मैंने किया। एक बात हो तो कहूँ, क्या-क्या गिनाऊँ ? अनगिनत पाप किये हैं मैंने। सचमुच मैं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। अतः अब मुझे भी जीने का अधिकार नहीं रहा।"

धर्मेश द्वारा धैर्य बधाने पर मनमोहन चुप तो हो गया, पर उसके मन के विकल्प नहीं रुके, अन्तर्जल्प चलता ही रहा -

हे भगवान ! मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मुझे तो चुल्लू भर पानी में डूबकर मर जाना चाहिए, पर मरकर भी तो मुझे इस अपराध से छुटकारा नहीं मिलेगा, शान्ति नही मिलेगी । मेरी प्राणो से प्यारी बेटियो का दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। उनके दुःखो को अनदेखा करने के लिए, भूलने के लिए ज्यो-ज्यो मैं नशे मे डूबने की कोशिश करता हूँ, त्यो-त्यो ये दुःख बढते ही जा रहे है। अब तो नशे मे डूबे रहने पर भी चारो ओर ये ही दृश्य दिखाई देते हैं। अतः अब तो मेरे लिए एकमात्र मरण ही शरण दिखाई देता है। मरण के सिवाय अन्य कोई उपाय ही शेष नहीं रहा, क्योंकि अब तो जहर खाने तक को पैसे नहीं रहे। नशे मे डूबे रहने के लिए भी तो पैसे चाहिए न ? मदिरा मुफ्त मे तो आती नही। मदिरा पीने के लिए भी अब मैं पैसे कहाँ से लाऊँगा ? घर में तो कुछ बचा नही। घर की तो एक-एक वस्तु इस मदिरा देवी की बलिवेदी पर चढ़ा चुका हूँ। अतः अब तो किसी गहरी नदी या जलाशय मे डूबकर मरना ही अन्तिम उपाय शेष रह गया है।

इसतरह अन्तर्जल्प करते-करते मनमोहन की आँख लग गई। आँख क्या लग गई। सोते-सोते स्वप्न मे भी वही रटन हाय हाय अब क्या करूँ?

धर्मेश धर्मध्यान, आत्मचिंतन और तत्त्वमथन करने हेतु एकान्त स्थान खोजते हुए कभी नदी के किनारे तो कभी किसी पहाड़ी पर; कभी सघनवृक्ष की छाया तले तो कभी किसी बाग-बगीचे में; कभी किसी तीर्थ पर तो कभी किसी बसतिका में चला जाता था।

एक दिन वह नदी के किनारे पर बैठा-बैठा सूर्यास्त का मनोहारी दृश्य देख रहा था और सोच रहा था - "जैसे इस सूर्य की इहलीला समाप्त हो रही है, इसका प्रकाश व प्रताप प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है, ठीक इसीतरह मानव जीवन भी प्रतिपल मृत्यु की ओर बढ रहा है। यह जीवन सूर्य की भाँति ही द्रुतगति से मृत्युरूपी अस्ताचल की ओर बढ रहा है, अत. जीवन का प्रकाश रहते यथासभव शीघ्र ही आत्मावलोकन कर लेना चाहिए। इन प्राकृत दृश्यो के देखने मे अपने समय को खराब नही करना चाहिए।"

- ऐसा सोचकर ध्यानस्थ हुआ ही चाहता था कि पीछे से ध्यान को भंग करती हुई 'धड़ाम' सी आवाज आई। मानो किसी ने पहाड़ी पर से नदी के गहरे पानी मे छलाग लगाई हो।

मुड़कर देखा तो गोते खाता, डूबता-उतरता एव घबराता हुआ हाथ-पांव फड़फड़ाता एक व्यक्ति दिखाई दिया। जो कुछ-कुछ जाना-पहचाना-सा लगा। धर्मेश ने पास जाकर देखा तो आँखें फटी की फटी ही रह गईं।

"अरे ! यह तो मनमोहन है। इसे यह क्या सूझा ? माना कि इसे अपने किए पापो का बहुत पश्चाताप है, आत्मग्लानि भी बहुत है। पर ऐसा अनर्थ !

निश्चय ही वह अपना सतुलन खो बैठा है। अन्यथा मनुष्य गति के इन सामान्य से अल्पकालिक दु:खो से बचने के लिए वह आत्मघात करके नरक गति के असह्य, कल्पनातीत, दीर्घकालिक दु:खों को आमंत्रण नहीं देता।

अरे ! मैं यह क्या सोचने लगा ? किन विचारों में भटक गया ? देखूँ तो सही, सम्भव है कि अभी जीवित हो ! अभी यह सब सोच-विचार का समय नहीं है।"

- ऐसा विचार आते ही धर्मेश अपनी जान को जोखिम मे डालकर अथाह नदी मे कूद गया और उसे नदी के मध्य से किनारे पर खींच लिया।

मनमोहन के पेट मे पानी तो बहुत भर चुका था, पल दो पल मे ही प्राणांत होने वाला था, पर दैवयोग से वह बच गया। पश्चाताप की पचाग्नि मे तप कर और प्रायश्चित की गगा मे गोते लगा कर उसने अपने पापो का प्रक्षालन तो कर लिया, पर अभी भी उसकी आत्मग्लानि कम नहीं हुई, उसे आत्मसंतोष नही हुआ।

उसने धर्मेश से कहा - भाई ! जिन दुर्व्यसनो के कारण मै आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करने को विवश हो गया और नदी मे कूद पडा, यदि आप नहीं बचाते तो ।

अब मैं इस जीवन से तो मानों मर ही चुका था। अत: अब मैं पुन: इस पापचक्र एव विषयवासना के दलदल में नहीं फसना चाहता हूँ। अब तो मैं आपके सन्निध्य में रहकर धर्मध्यान के लिए ही जीना चाहता हूँ। आपकी शरण मे ही रहना चाहता हूँ।"

ऐसा कहते-कहते वह भावुक हो उठा, उसकी आँखों से पुन: पश्चाताप की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। •

१४

धर्मेश का मित्र अमित व्यसनी तो था, पर बेईमान और बदमाश नहीं था। अपने व्यसनो की बुरी आदत के कारण हुई परिवार की परेशानियों को देखकर और अपने स्वसुर मनमोहन के दु खी परिवार को देखकर अब वह अपने व्यसनो को स्वय भी बुरा मानने लगा था और उन्हे छोडने का मन भी बना लिया था, पर अभी वह छोड नही पा रहा था।

जहाँ कुछ समय पहले वह व्यसनो की बुराइयो और हानियो को सुन भी नही सकता था, वही अब वह विषय-वासनाओ और व्यसनो की बुराइयो को न कवल ध्यान से मुनता, बल्कि सिद्धान्तत. स्वीकार भी करता कि वस्तुत ये सब त्याज्य हैं। इतना ही नही, उन्ह त्यागने का सकल्प भी करता।

जब वह ऐसी भावना व्यक्त करता तो धर्मेश सहित सभी परिजन-पुरजनो को भारी प्रसन्नता होती, बहुत अच्छा लगता, परन्तु उसके सकल्प हफ्ते-दो हफ्ते से अधिक नही टिक पाते। फिर वही का वही, वैसे का वैसा व्यसनो मे लिप्त हो जाता।

इन दुर्व्यसनो का स्वरूप ही कुछ ऐसा है, जो एक बार फसा सो फसा। फिर इनसे उबरना बहुत कठिन काम है। इसीकारण इस बार उसके त्याग के सकल्प पर किसी ने कोई खास खुशी जाहिर नही की।

परन्तु इस बार अमित ने सचमुच दृढ सकल्प के साथ सपूर्ण दुर्व्यसनो को जीवनपर्यन्त के लिए तिलाजलि दे ही दी और धर्मेश के सान्निध्य मे प्रतिदिन नियमित होनेवाले प्रवचनो मे सम्मिलित होने लगा।

जब जाग जाओ, तभी है सवेरा की उक्ति के अनुसार अमित के विषयों से विरक्त होने की चर्चा पानी मे तेल व हवा मे गध की तरह गाँव भर मे फैल

गई। सर्वत्र सबके मुँह पर एक ही बात.अमित ' अमित , अमित '; परन्तु जितने मुँह, उतनी तरह की बाते।

कोई कहता - "नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली है।"

दूसरा उसकी बात को काटता हुआ कहता - "अरे भाई ! इसमें कौनसी नई बात है, बडे से बडे धर्मात्मा भी धर्मात्मा बनने के पहले तो पापी ही थे। पापी ही तो पाप का त्याग कर एक न एक दिन पुण्यात्मा और धर्मात्मा बनते हैं। श्रीकृष्ण के पुत्र शभुकुमार एव राजा मधु की पौराणिक कथा इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

हरिवश पुराण पढने वाले यह भली-भाँति जानते हैं कि - महारानी जाम्बुवती की कोख से जन्मे शभुकुमार ने अपनी हविस को पूरा करने की खोटी भावना से अपने पिता श्रीकृष्ण को किसी तरह प्रसन्न करके पुरस्कार स्वरूप एक माह के लिए राज्य सत्ता प्राप्त की थी। और जब शंभुकुमार को सत्ता सोपकर श्रीकृष्ण अज्ञातवास मे चले गये तो अवसर पाते ही शभुकुमार की पापमय स्वच्छद प्रवृति किस तरह प्रबल हो उठी थी? उसकी कामवासना ऐसी तीवतम जाग्रत हो गई थी, मानो आग मे घी पड गया हो। तब उन्होने क्या-क्या अनर्थ नही किए ? ऐसे निर्लज्ज कार्य किये, जिनके कहने मे भी शर्म आती है।

फिर भी पुराण कहते हैं कि उन्ही शभुकुमार ने अपने पापो का प्रायश्चित्त करके आत्म-साधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा गृहस्थपना छोडकर मुनिधर्म अगीकार कर निजस्वभाव साधन द्वारा उसी भव मे घातिया-अघातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया एवं मोक्ष प्राप्त किया।

ऐसा ही दूसरा प्रसग राजा मधु के साथ बना था। उसने अपने अधीनस्थ राजा हरिभद्र की पत्नी चन्द्राभा का अपहरण करके, उसे अपनी रखैल (उप पत्नी) बनाकर घर मे रख लिया। परिणामस्वरूप चन्द्राभा का असली पति अपनी प्रियतमा चन्द्राभा के वियोग मे पागल हो गया और गली-गली घूम-घूम कर अपनी पत्नी वापिस लौटा देने की गुहार करता रहा। फिर भी

राजा मधु ने उसे नहीं लौटाया। ऐसा अन्याय करने पर भी राजा मधु ने अन्त में अपनी भूल सुधार कर स्वर्ग समान भोगभूमि में उत्तम गति प्राप्त की।"

तीसरा बोला - "इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि अरे भैया! इन चक्करों से जब छूट पाया, तभी अच्छा। दुर्व्यसनो से पल्ला छुडाना आसान काम नहीं है। यह काम किसी भी महाभारत जैसी बडी जग को जीतने से कम नही है।

जग जीतना आसान है, पर व्यसनो से पार पाना कठिन है। जो दिन मे दस-दस पैग पीता हो, दिन-रात शराब के नशे मे धुत्त रहता हो, चैनस्मोकर हो और मुँह से रेलगाडी के कोयले के इजन की तरह धुँआ छोडता ही रहता हो, रात-रात भर जागकर नृत्यागनाओ के नृत्य-गान देखता-सुनता रहता हो, दिनभर आँखो मे नींद भरे अर्द्ध विक्षिप्त-सा पडा रहता हो, जिसका न खाने-पीने का सही समय हो, न सोने-जागने का कोई निश्चित समय। तेज मसालो का तीखा गरिष्ठ भोजन करना और नित्य नई-नई नगरवधुओ के द्वार पर दस्तक देना ही जिसका काम हो - ऐसा व्यक्ति जब भी, जो भी, जितना भी त्याग करता है, अच्छा ही है। आप ही सोचो - ऐसे व्यक्तियो से विषयो से विरक्त होने की आशा व अपेक्षा की ही कैसे जा सकती है ?"

चौथा बोला - "इन बातो मे क्या धरा है ? वह अब भी सुधरने वाला नहीं था। हुआ यह कि एक दिन उसक फेमिली डॉक्टर ने जवाब दे दिया कि जाओ ! घर जाओ ! अब मेरे पास आने की जरूरत नहीं है। कहीं भी/ किसी भी डॉक्टर के पास जाने की जरूरत नही है। बस, दो-चार माह और पी लो, खालो और मजे उडालो, फिर तो कहते-कहते डॉक्टर चुप हो गया।

डॉक्टर को चुप देख अमित ने लडखडाती जबान से कहा - "फिर क्या ?"

डॉक्टर बोला - "फिर तो सागरो पर्यन्त शराब तो क्या ? पानी की एक-एक बूद को और अन्न के एक-एक दाने को तरसना ही है।"

बीच में बात काटते हुए तीसरे ने पुन. पूछा - "और क्या-क्या कहा था डॉक्टर साहब ने ?"

चौथे का उत्तर था - "अरे ! उन्होंने साफ-साफ कह दिया, अमित ! सिगरेट व शराब पीने से तुम्हारे दोनों फेफड़े जर्जर हो गये हैं, लीवर ने काम करना बन्द कर दिया है। मांसाहार से तुम्हारी आतें बिल्कुल खराब हो गई हैं। बाजारू औरतो के सम्पर्क से तुम्हे 'एड्स' जैसी खतरनाक जान लेवा बीमारी हो सकती है। सिरगरेट, सुरा और सुन्दरी ने तुम्हारे अंग-अंग को क्षीण कर दिया है। जितने वर्ष तुम जी चुके हो, अब उतने महीने भी तुम्हारे जीने की आशा नहीं है।"

पाँचवाँ बोल उठा - "अच्छा ! यह बात है, तभी तो मैं कहूँ कि यह पश्चिम से सूरज कैसे निकल आया ? अब समझ मे आया कि मौत को माथे पर मंडराता देख धर्मात्मा बनकर परमात्मा को प्रसन्न करने का प्रयास किया जा रहा है, पर ऐसे पापियो से परमात्मा प्रसन्न होने वाले नहीं हैं।

भगवान इतना भोला थोडे ही है, इसने भी उनकी कब सुनी जो वह इसकी सुनेगा। तुम क्या तारीफ करते हो उसकी ?"

चौथे ने पुनः कहा - "अरे भाई ! तुम्हे अकेले उसी से इतनी चिढ क्यो है ? हम तुम भी तो उसी थैली के चट्टे-बट्टे हैं। कोई दो कदम आगे तो कोई दो कदम पीछे। इससे क्या फर्क पड़ता है।? हो सकता है हम उस स्टेज पर भी न पहुँच पायें, सभल न पायें। हमे अपनी ओर भी तो देखना चाहिए। ऐसा न हो कि हम कुत्ते की मौत मरे और कान मे धर्म के दो शब्द सुनाना तो दूर, कोई मुँह में पानी की दो बूँदे डालने वाला भी न मिले।"

इसी बात का समर्थन करते हुए छठवाँ बोला - "अरे भाई ! ऐसी क्या बात करते हो ? वैसे देखा जाए तो सभी महान आत्माएँ भी तो कभी न कभी इसी तरह भूले-भटके ही थे। तभी तो वे भी ससार में जन्म-मरण करते रहे। जब संभले-सुधरे, तभी तो उन्हें भी मोक्ष मिला।

इसीलिए तो कहा है कि 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' पापी तो कभी भी परमात्मा बन सकता है।

भगवान महावीर के जीव को ही देख लो । कहाँ पुरुरवा भील जैसा हिंसक हत्यारा, कहाँ मारीचि जैसा मिथ्यादृष्टि और कहाँ परमपूज्य भगवान महावीर स्वामी की परम पवित्र पर्याय ?

भील के भव मे उन्होने क्या-क्या पाप नही किए होगे ? शराब भी पीते ही होगे, मास भी खाते ही होगे। आखिर जगली ही तो थे। अत. भूत को तो भुलाना ही पडेगा। वर्तमान को सभालने से भविष्य अपने आप सभल जाता है। अत. अमित ने जो भी किया अच्छा ही किया। जब चेता तभी ठीक। कल्याण होने मे देर हीं क्या लगती है। अनन्त काल की भूलो को मेटने के लिए अनन्त काल थोडे ही लगता है ? जिसप्रकार रातभर के स्वप्न जागते ही समाप्त हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार भेदज्ञान होत ही, सम्यग्ज्ञान का सूर्य उदित होते ही सारा अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है और पापाचार छूट जाते हैं।"

छठवें मित्र ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुये कहना जारी रखा - "हाँ, अब भी यदि वह आत्मा का आश्रय न ले सका और जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को न समझ सका, केवल बाह्य धर्मक्रियाओं को ही धर्म मानकर सतुष्ट हो गया तो वह पीड़ाचिंतन जैसे आर्तध्यान से स्वय को नहीं बचा पाएगा। जब इतने भयकर रोगों से उसकी देह ग्रसित है तो दर्द तो होगा ही। बारबार उस दर्द की ओर उपयोग भी जाए बिना नहीं रहेगा। शारीरिक पीड़ा के साथ मानसिक पीडा भी होती ही है।

इन सबसे बचने के लिए देह और आत्मा की भिन्नता और वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को सतत् याद रखना, अपने किए पाप के फल का विचार और संसार की असारता का बारम्बार स्मरण करना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्यथा पीडाचितन आर्तध्यान का फल तो अधोगति ही है, क्योंकि इसमे परिणाम निरन्तर सक्लेशमय रहते हैं, जिनका फल नर्क -निगोद है।

छहढाला मे कहा भी है -

'अति सक्लेश भाव ते मर्‌यौ, घोरश्वभ्र सागर मे पर्‌यो।'

भाई। यह बात केवल अमित की ही नही है, इस मामले मे हम सब भी अमित के ही छोटे-बडे भाई है। अत: यदि सचमुच अपना कल्याण करने की अभिलाषा जगी हो तो धर्मेश जैसे व्यक्ति के सान्निध्य में रहना ही होगा।"

इसप्रकार अमित को लेकर उसकी मित्रमण्डली मे काफी अच्छा ऊहापोह हुआ। जिससे अनेक लोगो के भ्रम भी भग हुए तथा बहुत से तथ्य भी सामने आये। किसी ने ठीक ही कहा है - 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध:'

ऐसी चर्चा करते-करते सभी अपने-अपने घर चले गए।

इधर अमित ने भी भयकर पीड़ा से कराहते हुए बिस्तर पर करवट बदल ली और आँखें बन्द करके सोने का असफल प्रयत्न करने लगा। •

१५

सहज सयोग कहे या दैवयोग, एक दिन धर्मेश को एक ऐसा ग्रन्थ हाथ लग गया था, जिसने न केवल उसके मन को झकझोरा, बल्कि उसकी दिशा ही पलट दी।

ग्रन्थ हस्तलिखित था और राजस्थानी-ढूढारी पुरानी भाषा मे लिखा हुआ था, जो धर्मेश की मातृभाषा तो थी ही नही, प्रचलित राष्ट्रभाषा भी नही थी। इसकारण यद्यपि उसे पढने मे बहुत कठिनाई हुई, फिर भी उसने उसे बारम्बार पढा। पढकर वह उससे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि - 'मानो उसे साक्षात् मोक्षमार्ग मिल गया हो।' वह जिसकी खोज मे था, अनायास वही चिन्तामणि रत्न उसके हाथ लग गया था। अत. वह उसे कठस्थ कर लेना चाहता था, आत्मसात् कर लेना चाहता था। हस्तलिखित ग्रन्थ था और एक ही प्रति थी, वह भी जीर्ण-शीर्ण हालत मे। अत उसने पूरे ग्रन्थ की अपने हाथ से अपनी लिपि मे प्रतिलिपि कर ली। फिर क्या था, उसके हर्ष का पारावार नहीं रहा।

अब तो जो भी उसके सपर्क मे आता, सबको रस ले-लेकर उस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण अशो को ही पढ-पढ कर सुनाता। जो सुनता वह भी गद्गद् हुए बिना नही रहता। न केवल गद्गद् होता बल्कि उस पर रीझता भी, समर्पित भी होता।

जिनकी भली होनहार होती है, उनका ही पुरुषार्थ सही दिशा मे सक्रिय होता है और उन्हे निमित्त भी तद्नुकूल मिलते ही हैं।

धर्मेश ने उस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रारभ मे ही जब ये पंक्तियाँ पढीं कि - **अहो ! भली होनहार है जिनकी, उनको ऐसा विचार आता है कि मै कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये जो मेरे भाव होते हैं, इनका क्या फल लगेगा ?** -

इन पंक्तियों को पढ़कर धर्मेश अत्यन्त गंभीर हो गया था, सोच-विचार में पड़ गया था। उसे लगा - अहा ! इसमें तो एक-एक वाक्य गजब का है, एक-एक बात विचारणीय है, मैंने तो कभी इस दिशा में विचार ही नहीं किया।

यद्यपि धर्मेश की लौकिक शिक्षा बहुत अधिक नहीं हो सकी थी, परन्तु उसकी सोचने-समझने की शक्ति बहुत है।

उसने सोचा - बिहारी कवि की सतसई के बारे में जो यह कहा जाता है कि -

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर ।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर ॥

पर, उन दोहों मे इतनी गहराई कहाँ ? जितनी गहराई इस ग्रन्थ की इन पक्तियो मे है ? इस ग्रन्थ के लेखक ने तो गजब ही कर दिया है।

स्वाध्याय तो सभी करते हैं, पर धर्मेश जैसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं, जो ग्रन्थ के एक-एक वाक्य पर इतनी गहराई से विचार करते हैं। एक-एक पंक्ति पर इतना ध्यान देते है। एक-एक सत्य सिद्धान्त पर समर्पित हो जाते हैं, रीझ जाते हैं।

धर्मेश का सोचना था - जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।

जो जिनवाणी रूपी दरिया में गहरे गोते लगाता है, रत्नत्रय रूपी रत्न उसी के हाथ आते हैं। जो डूबने से डरते हैं, उनके हाथ तत्त्व नहीं आता।

धर्मेश जन्मजात क्रान्तिकारी तो था ही, वयस्क होते-होते सत्य की शोध मे भी लग गया था। उसे वे पंक्तियाँ असाधारण लगीं। उसका मन वहीं थम गया, आगे बढ़ने का उसका मन ही नहीं हुआ। वस्तुतः बात भी असाधारण थी। जो भी उन पक्तियों को ध्यान से पढ़ता-सुनता, उन पर विचार करता; उसका हृदय प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

अमित से भी उसने इन पंक्तियों पर ध्यान देने को, चिन्तन-मनन करने को कहा था; पर उसने इसके कहने की परवाह नहीं की, सो नहीं की।

देखो न !'**भली होनहार है जिनकी अहा** - !' यह एक वाक्य ही कितने गजब का है ? सारा जगत तो पुण्य के उदय से प्राप्त बाहर की अनुकूलता को ही अपनी भली होनहार माने बैठा है।

सुख के बारे मे भी अधिकांश व्यक्ति यह कहते मिल जायेगे कि -

पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर मे हो माया।
तीसरा सुख कुलवन्ती नारी, चौथा सुख पुत्र आज्ञाकारी।
पंचम सुख प्रमुखता घर-बाहर, छठवाँ सुख समाज मे आदर।
इससे अधिक और क्या भाई, तीन लोक की सम्पत्ति पाई ॥

यही कारण है कि लोग तन-धन-स्त्री-पुत्र की अनुकूलता और आदर सम्मान प्राप्त करने के लिए पागल हो रहे है।

यह मूढ जगत ऐसी ही और न जाने कितनी कपोल-कल्पित कल्पनाओ मे सुख मान कर बैठा है और इसे ही अपनी भली होनहार मानता है, जबकि ये सब क्षणिक सयोग है। एक क्षण मे ही इन सभी अनुकूलताओ को प्रतिकूलताओं मे पलटते देर नही लगती। यह कैसी भली होनहार है, जो पल भर मे बुरी होनहार मे पलट जाती है।

सच्चे धर्मात्मा तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण प्राप्त होने को ही अपना भाग्योदय मानते हैं, धर्म की रुचि एव तत्त्व को समझने की जिज्ञासा जगने को ही अपना अति पुण्य का उदय, धन्य जीवन और भली होनहार मानते हैं।

दर्शनपाठ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है -

अतिपुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया ।
तब पद मम उर मे आये, लखि कुमति विमोह पलाये ।
निज ज्ञानकला उर जागी, रुचिपूर्ण स्वहित मे लागी ॥

देखो, यहाँ यह नहीं कहा कि -

'अतिपुण्य उदय मम आया, पाई निरोगी काया'

यह भी नहीं कहा कि -

'अतिपुण्य उदय मम आया, अरबों का वैभव पाया।'

और भी इसी तरह 'क्या कहा और क्या नहीं कहा ? - इस पर विचार किया जाना चाहिए।'

धर्मेश सोच रहा था - ये सभी बाते बहुत ही गहराई से विचारणीय हैं। इस ग्रन्थ मे ऐसी-ऐसी न जाने कितनी बाते होंगी। अहा हा ! इस ग्रन्थ की तो एक-एक पंक्ति मे मौलिकता दृष्टिगोचर होती है।

अकेले-अकेले स्वाध्याय करने से उपयोग उतना अधिक स्थिर भी नहीं हो पाता, अत. यदि हम सब सामूहिक स्वाध्याय करे, परस्पर चर्चा करे, तो विशेष काम हो सकता है। देखते है क्या होता है ? यदि ऐसा कुछ बनाव बनता है तो हम सबके लिए हितकर रहेगा -

ऐसा सोचते-विचारते वह अपने नित्यकर्म मे लग गया।

•

१६

भारतीय भूमि पर जन्मे मानवो में धर्म का ज्ञान हो या न हो, वे धर्म के सही स्वरूप को जानते हो या न जानते हो, वे धर्मात्मा हों या न हो, पर धर्म करने की भावना एव धर्मात्मा बनने की भावना तो प्राय· सभी मे रहती ही है। और अपनी-अपनी समझ के अनुसार प्रायः सभी धर्मसाधन भी करते ही हैं।

पापी से पापी व्यक्ति, चाहे वह बूचडखानो मे कसाई के करम करने वाला हो, दिन-रात झूठ-फरेब, धोखा-धडी करने वाला हो, एक नम्बर का चोर-ठग या डाकू हो, गुण्डा बदमाश हो, ऐसा महालोभी हो कि पैसे को ही परमात्मा समझ बैठा हो, शराबी-कबाबी हो, सभी दुर्व्यसनो मे लिप्त हो, वह भी अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार शक्ति प्रमाण धर्म के नाम पर कुछ न कुछ अवश्य करता है। चाहे वह कबूतरो को दाना चुगाने का रूप हो, चींटियो के बिलो मे आटा बिखेरने का रूप हो, गायो को चारा देने का रूप हो, भले वह देवी-देवताओ के चित्रो के आगे अगरबत्ती जलाने का रूप ही क्यो न हो, पर सुबह-शाम दोनो सध्याओ के समय कुछ न कुछ करेगा अवश्य, तभी अपने-अपने धंधे पर जायेगा। पर बिना विवेक के यह सब करने से कोई लाभ नहीं होता। यह सब तो कोरी आत्मसंतुष्टि मात्र है। स्वय को धोखे मे रखना है। पाप परिणति किसी भी कारण हो, उससे पापबध तो होगा ही होगा। आजीविका आदि का बहाना उस पापबन्ध से नहीं बचा सकता।

यदि धर्म के नाम पर यही या इसीप्रकार की कुछ और अधिक खर्चीली क्रियाये सम्पत सेठ ने भी कर-करा डाली, तो ये उसके धर्मात्मा होने के लक्षण नहीं हैं।

भाई । धर्म प्रदर्शन की वस्तु नहीं, धर्म तो आत्मदर्शन का नाम है, जिसका विस्तृत विवेचन जैनदर्शन मे है। केवल जैनकुल मे जन्म ले लेने से और

धर्मायतनों के निर्माण में धन दे देने से धर्म उपलब्ध होने वाला नहीं है। उसके लिए स्वयं को जैनदर्शन का अध्ययन (स्वाध्याय) तो करना ही होगा। तभी इस लोक में और परलोक में भी सुख मिल सकेगा। पर सम्पत सेठ में अभी ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता।

सम्पत सेठ को अपने उद्योग-धंधो और व्यापार मे अति व्यस्तता के कारण परलोक के सबंध में सोचने का अभी समय ही कहाँ ? जब भी कभी/ कोई प्रवचन में आने या स्वाध्याय करने की बात कहता तो उसका एक ही तकिया कलाम उत्तर होता - अरे भाई ! अभी तो मरने की भी फुर्सत नहीं है । हाँ, हमारे लायक कहीं/कोई काम हो तो कहना, आवश्यकतानुसार हम आपका तन-मन-धन से सहयोग करने को तैयार हैं।

सचमुच देखा जाए तो वास्तविक बात यह है कि उसे आत्मा-परमात्मा और परलोक के विषय में न कुछ जानकारी है और न कुछ जिज्ञासा ही है। उसने इतनी दूरदृष्टि से कभी सोचा ही नहीं है। धार्मिक कार्यों में धन खर्च करने से ही उसे सर्वाधिक सम्मान मिलता रहा, इसकारण पैसा कमाने व खर्च करने में ही उसकी रुचि बढ़ती गई।

सम्पत सेठ का मानना है कि आज के युग में धन के बिना कुछ नहीं होता। धरम भी धन के बिना कैसे होगा ? दान-पुण्य आदि करने को भी तो पैसा ही चाहिए न ? परमात्माओं की प्रतिष्ठा भी पैसों के बिना नहीं होती। अतः परिवार के पुरुष वर्ग का प्रमुख काम तो उद्योग-धंधों को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाना ही है। धर्मध्यान एवं जप-तप करने के लिए तो घर में निठल्ली बैठीं महिलायें ही पर्याप्त हैं।

सम्पत सेठ की मानसिकता के अनुरूप ही उसके परिवार की महिलायें भी अपने पति, पुत्र, परिवार और व्यापार की कुशलता की कामना हेतु यथाशक्ति व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, दान-पुण्य के काम किया ही करतीं तथा देवी-देवताओं की मनौतियां भी मनातीं ही रहतीं। हाँ, जिन कार्यों मे मान-सम्मान और सामाजिक नेतृत्व मिलता हो, उनके लिए सेठ कभी मना नहीं करता।

सम्पत सेठ ने जन्मजात जैन होने के नाते पृथक् से देवी-देवताओ के मन्दिर तो नहीं बनवाये, पर जो जैन मदिर बनवाया, उसी के अगल-बगल मे रक्षक के रूप मे देवी-देवता तो स्थापित करवा ही लिए।

सेठ ने सोचा - "यदि वे हमारे मददगार होते होगे तो हो जाएगे। और न भी होगे तो न सही, फिर भी उनकी उपासना करने मे अपनी हानि ही क्या है ? अपना ले क्या जाएगे ? जितना खर्च उनकी पूजा-पत्री मे होता है, इतने बडे व्यापार मे उतना तो चूहा-बिल्ली ही खा जाते है। यदि देवी-देवता मुट्ठीभर तदुल, पुष्प दीप-धूप और फलादि से ही प्रसन्न हो जाते हैं, तो इससे सस्ता सौदा और हो ही क्या सकता है ?

धरम-करम के सब साधन जुटाने का जो अपना कर्त्तव्य है। सो वे साधन तो सब जुटा ही रखे हैं। वैसे सचमुच देखा जाए तो अगला जन्म देखा ही किसने है ? फिर भी होता भी हो तो उसके लिए भी भरपूर इतजाम है ही। इससे अधिक तो और किया भी क्या जा सकता है ?"

सेठ इससे अधिक और सोच भी क्या सकता था ? व्यापारी-बनिया जो ठहरा। 'पैसा फैको तमाशा देखो' के सिवाय अभी तक उसने और कुछ किया भी नही था।

'परहित सरिस धरम नहि भाई' की उक्ति के अनुसार सेठ ने परोपकार के उद्देश्य से अनाथालय, औषधालय, विद्यालय, वृद्धाश्रम और विधवाश्रम आदि लोक कल्याण के कार्य तो अपने निजी पारमार्थिक ट्रस्टो द्वारा चला ही रखे थे, पर जबसे उसने किसी से यह सुन लिया कि औषधि दान से अपना शरीर निरोग रहता है, शारीरिक बल बढता है, ज्ञानदान से अपना ज्ञान बढ़ता है; बुद्धिबल बढता है, आहार दान से गृहलक्ष्मी अन्नपूर्णा हो जाती है, घर मे अन्न का अक्षय भडार भरा रहता है, वृद्धो की, विधवाओं की, अनाथो की, भिखारियो की सेवा करने से यशलाभ होता है, तब से उसकी रुचि इसप्रकार के कार्यों मे और भी विशेष बढ़ गई थी।

अब वह सोचने लगा - आम के आम गुठलियो के दाम की शैली से चलने वाले इन पारमार्थिक ट्रस्टो से हमे हानि तो कुछ है ही नही, बल्कि लाभ ही लाभ है। इसमे खर्च होने वाला धन तो सब धर्मादा फण्डो से आ ही जाता है, जो सीधा विक्रेता व्यापारी से ही आता है। अतः इनका आर्थिक बोझ तो अपने माथे कुछ है ही नही।

'नाम का नाम साथ मे अनेक काम' इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? जबसे चिकित्सालय खुला, डॉक्टरो की हजारो रुपया फीस के तो बचने ही लगे, छोटी-मोटी दवाइयाँ भी वहाँ से आ जातीं है। टेलीफोन के एक सकेत पर चिकित्सालय का बड़े से बड़ा डॉक्टर तत्काल सेवा मे उपस्थित हो जाता है।

बच्चो की ट्यूशनो मे जो खर्च होता था, वह खर्च भी अब अपने विद्यालय के शिक्षको की अतिरिक्त सेवाओ से कम हो गया है।

व्यक्तिगत एवं घरेलू किसी भी काम के लिए जरूरत पडने पर विधवा आश्रम से मनचाही किसी भी महिला को दिन में/रात में कभी भी क्यो न बुलाओ, तत्काल सेवा मे प्रस्तुत हो जातीं हैं। उन बेचारियों को दूसरा सहारा भी क्या है ?

धर्मेश सम्पत सेठ के इस धार्मिक अज्ञान और आर्त-रौद्र ध्यानरूप प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं था। उसकी जितनी भी धार्मिक क्रियाए और तत्संबधी सोच

था, वह निदान नामक आर्तध्यान और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान की सीमा से उभर नहीं पा रहा था। इसकारण धर्मेश को बारम्बार विकल्प उठता था -

कदाचित् इसका इसी स्थिति मे मरण हो गया तो निश्चित ही इसकी अधोगति ही होगी। लोकोपकारी कार्यों को देखकर लोक भले ही इसकी देह को ससम्मान चंदन की चिता से जलायें, बडे-बडे नेता इसकी श्रद्धांजली सभायें करें और उनमें इसके इन कार्यों का गुणगान करें, पर इन सबसे इसके आत्मा को क्या लाभ होगा ?

किसी चौराहे पर स्टेच्यू भी लग जायेगा, जिसे देख-देख परिवार के लोग गौरवान्वित भी हो लेगे, पर सम्पत सेठ के आत्मा को तो उसके परिणामो का फल भोगना ही पडेगा। सम्पत सेठ के जितने भी परमार्थ के काम है, कहने मात्र परमार्थ के है, वस्तुत तो वे सभी भोग सामग्री की प्राप्ति, उसी भोग सामग्री के संरक्षण एव भोगो की पुष्टि के लिए ही हैं। अत: स्पष्ट अशुभ निदान आर्तध्यान ही है।

धर्मेश ने सोचा - उस बेचारे को कुछ पता तो है नही कि - **मेरे जो ये भाव हो रहे हैं, इनका फल क्या होगा ?** अत. ऐसा कोई उपाय अवश्य सोचना पडेगा, जिससे ऐसे लोग प्रभावित हो और जिनवाणी की शरण मे आयें और धर्म के मर्म को पहचाने।

धर्मेश यह भी भली-भाँति जानता है कि भले ही कोई आध्यात्मिक क्रान्तिकारी कदम किसी को यकायक स्वीकृत न हो, इस कारण कोई विरोध भी हो सकता है; पर सामान्य रुचि वालो को एकत्रित करने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय भी तो नही है। विरोध भी तो प्रचार का एक सशक्त साधन है। वातावरण तो बन ही जायेगा। विरोध करने वालो को बाद मे शान्ति से समझायेंगे। सफलता मिलने पर बहुतो को तो बिना समझाये ही समझ मे आ जायेगा। प्रारंभ मे थोड़ी-सी रिस्क तो उठानी ही पडेगी।

ऐसे विचार से उसे मन ही मन कुछ सतोष हो गया और वह विश्राम के लिए चला गया।

●

१७

सम्पत सेठ धर्मेश के पिता का सबसे श्रेष्ठ व घनिष्ठ मित्र माना जाता था। वह धर्मेश के पडौस मे ही रहता था। घर जैसे ही संबंध थे उन दोनों परिवारो मे।

यद्यपि सम्पत सेठ अपने गाँव मे भी आर्थिक दृष्टि से खूब सम्पन्न था। कोई कमी नही थी उसे वहाँ, पर वह महत्वाकाक्षी बहुत था। अत: बीस वर्ष पहले व्यापार के विस्तार के लिए वह उद्योगनगरी बम्बई पहुँच गया था। वहाँ भाग्योदय से वह दस-बारह वर्ष में ही बहुत बड़ा उद्योगपति बन गया। अब तो उसकी गिनती टाटा-बिडला जैसे उद्योगपतियों मे होने लगी।

अब उसके पास आय के इतने अधिक और स्थाई स्रोत हो गये कि यदि वह अपने शेष अमूल्य जीवन का एक क्षण भी उद्योग-धंधे में न दे तो भी उसकी आय पर और उद्योग-धधो पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा।

उसके उद्योग को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसके पास योग्यतम कार्यकर्त्ता एव कर्मचारी तो हैं ही, उसके पुत्र-पौत्र भी उनसे अधिक कुशल हो गये हैं और पूरी जिम्मेदारी से काम संभालने लगे हैं। अधिकांश उद्योग तो विकसित भी उन्हीं पुत्र-पौत्रो की तकनीकी सूझ-बूझ और श्रम से ही हुए हैं।

परन्तु सम्पत सेठ को स्वय ही धन कमाने का भारी शौक है। उसे कमाई के कामों मे आनन्द भी बहुत आता है। पचहत्तर वर्ष की उम्र मे भी वह व्यापार मे एक नवयुवक की तरह उत्साहित होकर रुचि लेता है और आठ-आठ घटे जमकर ऑफिस मे बैठता है। जबकि डॉक्टर ने पूर्ण विश्राम करने का परामर्श दिया है। उसे दो बार तो सीवियर हार्ट-अटैक हो चुके हैं; पर पता नहीं, वह अपनी जान को जोखिम में डालकर ऐसा क्यों करता है ? मना करने पर भी क्यों नहीं मानता ?

लगता है सेठ की होनहार ही खोटी है, अन्यथा ये दिन कोई ऐसी मोह-ममता मे पडे रहने और ऐसे विना मतलब के काम करने के थोड़े ही हैं।

किसी की कोई मजबूरी हो, रोटी, कपडा और मकान की समस्या हो तो बात जुदी है, पर उसके साथ ऐसा कुछ भी तो नही है। उसके पास तो सात-सात पीढियो तक की आजीविका का पक्का इन्तजाम है।

उसके पास करोडो का तो कैश-नगद रुपया होगा। बडे-बडे उद्योगो पर उसका एकाधिकार है। अरबो की कीमत के बडे-बड़े आटोमैटिक प्लाट हैं, जिनमे अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ अपना-अपना काम बखूबी देखते हैं। घर के लोग भी देखभाल करने मे पूर्ण सजग व सावधान हैं। घाटे का कभी कोई काम नही है।

बम्बई नगर मे तो सम्पत सेठ के कोठी-बगले है ही, देश-विदेश के प्रमुख आद्योगिक नगरो मे भी निजी भवन हे। तीर्थो और पर्यटक स्थलो पर भी बगले बनवा रखे हैं।

यदि सम्पत सेठ चाहे तो चावीसो घट फ्री रह सकता है ओर अपना पूरा समय धर्म-ध्यान मे लगा सकता हे। परतु वह धर्म-ध्यान की ओर बिल्कुल ध्यान नही देता है। उमे तो परिग्रह सग्रह और उसके प्रदर्शन मे ही आनन्द आता है।

सेठ अपने वैभव का प्रदर्शन करने क लिए वर्ष मे एक-दो बार अपने गॉव भी अवश्य जाता आर वहॉ क सामाजिक व धार्मिक कार्यों मे अपना योगदान भी खूब देता। आज भी जगह-जगह उसके द्वारा दिये गये दान के पाटिये लगे देखे जा सकते हैं। इसी बीच धर्मेश से भी उसका मिलना-जुलना होता रहा। जब तक धर्मेश के पिता रहे, तब तक तो सेठ केवल उनसे मिलने ही गाँव आता-जाता रहा, क्योकि उनसे सेठ का व्यक्तिगत स्नेह था, घनिष्ठ मैत्री थी।

हृदयाघात के रोगी होने पर भी सेठ अपने आगतुक अतिथियों को अपना कारोबार, कोठी-बगले तथा चारो ओर बिखरा वैभव घटो घूम-घूमकर नीचे-ऊपर चढ़-उतरकर दिखाता है। बीच-बीच मे बिना कारण ओ रामू ! ओ श्यामू !! की आवाजें लगा-लगाकर अपने अतिथियो को अपने चेतन परिग्रह का अहसास भी कराता रहता है।

बेचारे आगंतुक भी सेठ का मनोविज्ञान समझते हैं। अतः न चाहते हुए भी सच्ची-झूठी हाँ मे हाँ मिलाते सेठ की मुस्कान में अपनी नकली मुस्कान मिलाते, जल्दी ही छुटकारा पाने के लिए कोई न कोई बहाना खोजते; पर सेठ की पकड़ जोंक से कम थोड़े ही थी, जो आसानी से छूट जायें।

सम्पत सेठ चाय-नाश्ता के बहाने रहा-सहा वैभव भी दिखाकर ही दम लेता। ऐसा करते सेठ शरीर से भले थक जाए, पर मन से कभी नहीं थकता; क्योंकि इसमें उसे आनन्द जो आता है।

सेठ जिसे अपना सौभाग्य समझे बैठा है, भाग्योदय माने बैठा है, वही उसके लिए दुर्भाग्य बनकर, क्रूर काल बनकर उसे कब धर दबोचेगा - इसकी उसे कल्पना भी नही है। उसे नहीं मालूम कि **यह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान** उसे किस नर्क के गर्त मे धकेल देगा।

धर्मेश ने स्वय भी सम्पत सेठ को एक-दो बार स्वाध्याय करने और प्रवचनो मे सम्मिलित होने की प्रेरणा दी और मौके-मौके पर आश्रम में पधार कर लाभ लेने का भी आग्रह किया, पर सेठ का सबके लिए एक ही घिसा-पिटा उत्तर होता -

"भाई ! अभी तो हमे मरने तक की फुर्सत नही है, आप स्वाध्याय की बाते करते हो। ये सब काम तो फुर्सत के हैं। जितना बडा व्यापार, उतनी अधिक उलझने। फिर आये दिन राज-काज के काम और सामाजिक सस्थाओं की देखभाल। इन सबसे समय बचे तब न स्वाध्याय की सूझे।"

सेठ ने धर्मेश को भी यही उत्तर दिया। साथ मे यह भी कहा -

"भाई ! आपका और हमारा तो पुराना परिचय है, आपके पिता से तो हमारी दाँतकाटी रोटी रही है। हमारे लायक कोई काम-काज हो तो आप हमे अवश्य याद करना, हम अवश्य आयेंगे।"

धर्मेश ने भी उसी पुरानी बचपन की टोन में कहा था - "सम्पत काका ! आपका वही पुराना परिचय और प्रेम ही तो हमे परेशान करता है और इसी कारण आपसे बारम्बार यह कहने का विकल्प आता है; पर आप तो हमारी बात पर ध्यान ही नहीं देते।"

सेठ की बातो से धर्मेश उसके इस मनोविज्ञान को समझने लगा था कि इसे आदर-सम्मान चाहिए, आमंत्रण चाहिए। इसलिए जो उसको विशेष आयोजनों में आदरपूर्वक बुलाता है, वहाँ वह दौड़ा-दौडा चला जाता है। अतः उसने सोचा -

"क्यों न सेठ को किसी शिक्षण-शिविर के उद्घाटन मे मुख्य-अतिथि बनाकर बुलाया जाये ? एकबार यहाँ आकर यहाँ का वातावरण देखेगा - प्रवचन सुनेगा तो सभव है सेठ को लगन लग जाये। एकबार रुचि जागृत हो गई तो फिर तो फुर्सत ही फुर्सत है। पर सेठ बिना विशेष आमत्रण के नही आयेगा, अतः यथासमय आमत्रण भेजना होगा।"

बड़ा सेठ, बड़ा विद्वान्, बड़ा नेता या बड़ा अभिनेता - कोई भी बडा नामधारी व्यक्ति हो, यदि वह तत्त्वज्ञान विहीन है तो उसे 'बड़प्पन' नाम की बीमारी हो ही जाती है। फिर वह छोटे विद्वानो को, छोटे साधुओ को छोटे प्रवचनकारो को छूत की बीमारी समझकर उनकी उपेक्षा करने लगता है, उनसे दूर-दूर रहने लगता है, भले ही वे छोटे उससे बुद्धिवल मे, ज्ञान-वैराग में बढ़े-चढे ही क्यो न हो ?

ऐसे बडे लोगो का सबसे बडा दुर्भाग्य यह होता है कि उनके तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के अवसर दुर्लभ हो जाते है। ये बडे लोग छोटे विद्वान् से तत्त्व की बात कैसे सुन सकते हैं ? भले ही स्वय को उस विषय का काला अक्षर भैंस बराबर ही क्यो न हो ? उनका यह बनावटी 'बडप्पन' उनके तत्त्वज्ञान में सबसे बडी बाधा बन जाता है।

जबतक कोई किसी बडे कार्यक्रम मे अतिथि विशेष बनाकर इन बडे लोगो को न बुलाये, तब तक वे वहाँ जा नही सकते, बडे आदमी जो ठहरे। बुलाये जाने पर पहुँच जाने के बाद भी वहाँ पूरे समय नही ठहरते। उन्हे लगता है, अधिक देर तक रुकने से कही छोटा न समझ लिया जाऊँ।

वे बड़े-छोटे विद्वान् की पहचान उनके आगमज्ञान या तत्त्वज्ञान से नही; बल्कि उनके सामाजिक प्रभाव से करते हैं, उनके अनुयायियों या प्रशंसकों की सख्या से करते हैं। अथवा कौन उन्हें कितना सम्मान दे सकता है, दिला सकता है ? ये हैं उनके विद्वानो को बडा मानने के मापदण्ड। पर ये सब तो

पुण्याधीन हैं। इनसे तत्त्वज्ञान का क्या संबध ? यद्यपि तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में सातिशय पुण्योदय का भी योगदान होता है, पर ऐसा तत्त्वज्ञान और पुण्योदय का मणिकांचन योग तो विरले विद्वानों के ही होता है। यह बात इन श्रीमन्तों की समझ में नही आ सकती। सम्पत सेठ भी उन्हीं श्रीमन्तों में से एक है।

धर्मेश ने सोचा - खैर! कुछ भी हो ! कम से कम सम्पत सेठ को तो राह पर लाना ही होगा। पिताजी की पुरानी पीढ़ी में एक मात्र यही तो बचे हैं, जिनको हम बचपन मे प्रेम से सम्पत काका कहा करते थे और सम्पत काका भी हमसे खूब प्यार किया करते थे। जब से वे गाँव छोड़कर बम्बई चले गये और वहाँ जाकर उद्योग-धधो में ऐसे उलझ गये कि अब उनका मिलना-जुलना भी सहज नहीं रहा। उन्हें भी बड़प्पन की बीमारी हो गई। जो भी हो, एकबार सम्पत काका को बुलाना तो है ही।

यह विचार कर धर्मेश ने सम्पत सेठ को शिविर के उद्घाटन का आमंत्रण भिजवा ही दिया।

सयोग से धर्मेश भी तत्त्वज्ञान के सतत् अभ्यास से ज्ञानी तो हो ही गया था, उसका बाह्य व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था। उसमे तत्त्वज्ञान के साथ पुण्य व पवित्रता का भी ऐसा सुमेल था कि उसकी वाणी का दूसरो पर अच्छा प्रभाव पडता था। धीरे-धीरे उसके प्रशसको एव अनुयायियो की सख्या भी बढ़ने लगी और उसका नाम व यश हवा मे गध की तरह चारो ओर फैलने लगा।

धर्मेश की गिनती भी बड़े विद्वानो मे होने लगी थी। बाल ब्रह्मचारी एव आश्रमवासी होने से सामान्य जन तो धर्मेश को सत ही समझते थे।

अध्यात्म विद्या का लाभ मिलने से निकट सम्पर्क में रहने वाले प्रायः सभी लोग उसे आदर भाव से 'गुरुदेव' कहने लगे थे। जिससे तत्त्वज्ञान का लाभ मिलता हो, उसे गुरुदेव कहना कोई अनुचित भी नहीं था। अतः उसने भी प्रतिकार नहीं किया।

'गुरुदेव' के नाम से विख्यात धर्मेश के आश्रम में बड़े-बड़े सेठ व बड़े विद्वान् भी बे-झिझक आने-जाने लगे थे।

इस समय धर्मेश अध्यात्म गगन मे उगता सूर्य साबित हो रहा था और उगते सूर्य को नमस्कार करने की परम्परा बहुत पुरानी है। यही वजह थी कि धीरे-धीरे बडे-बडे लोग भी धर्मेश के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान का लाभ लेने के लिए भारी सख्या मे वहाँ पहुँचने लगे। सम्पत सेठ से भी धर्मेश का यशस्वी व्यक्तित्व अनजाना नही रहा। अत. उसने भी यथासमय शिविर के उद्घाटन करने की स्वीकृति सहर्ष भिजवा दी थी।

शिविर का उद्घाटन समारोह प्रारभ हुआ। सम्पत सेठ मुख्यअतिथि के पद पर आसीन थे। शिक्षण शिविरो की आवश्यकता एव उपयोगिता विषय पर धर्मेश का हृदयस्पर्शी मार्मिक भाषण हुअ, जिसे सुनकर सभी गद्-गद् थे।

भाषण मे धर्मेश ने कहा - "देखो भाई ! यह बात विचारणीय है कि जब कोई व्यक्ति दो-चार दिन की यात्रा पर घर से बाहर जाता है तो वह नास्ता-पानी और पहनने-ओढने क कपडो की व्यवस्था करके तो जाता ही है। कब कहाँ ठहरना है, वहाँ क्या व्यवस्था होगी ? इसका भी पहले से ही पूरा सुनियोजन करता है और करना भी चाहिए। अन्यथा जो परेशानियाँ होतीं है, उनसे कोई अनजान नही है।

जब ट्रेन मे एक रात बिताने के लिए महीनो पहले से रिजर्वेशन कराये जाते है, सौ-सौ रुपये अतिरिक्त देना पडे तो वह भी देते है, हजार-हजार रुपया रोज के होटलो मे महीनो पहले कमरे बुक कराते है तो हमारी समझ मे यह बात क्यो नही आती कि **इस जन्म से अगले जन्मो की अनन्तकालीन लम्बी यात्रा करने के लिए भी कही/कोई रिजर्वेशन की जरूरत होती है ? जिसका रिजर्वेशन इस धूल-मिट्टी के धन से नहीं, बल्कि धर्म के धन से होता है।**

अरे भाई ! साठ-सत्तर साल के इस मानवजीवन को सुखी बनाने के लिए जब हमे दिन-रात के २४ घटे भी कम पडते हैं तो उसकी तुलना मे अनन्त काल के भावी जीवन की लम्बी यात्रा के बारे मे हम **क्यो नही सोचते कि उसको सुखमय बनाने के लिए हम क्या कर रहे हैं ? और जो भी धर्म के नाम पर कर रहे हैं, क्या वह पर्याप्त है ? क्या वह सही है ? इसका भी लेखा-जोखा कभी किया है हमने ?**

भविष्य को सुखमय बनाने की बात तो बहुत दूर की है, अभी तो वर्तमान के सुखाभास के चक्कर में ही हम आर्त-रौद्रध्यान करके अपने भविष्य को अधकूप मे धकेलने का ही काम कर रहे हैं।"

धर्मेश ने अपने भाषण मे मानव-जन्म की दुर्लभता पर प्रकाश डालते हुए इस दुर्लभ मानव जीवन एव सबप्रकार के अनुकूल संयोगों का आत्मकल्याण मे सदुपयोग करने की प्रेरणा कुछ इस ढग से दी कि सभी को यह अहसास होने लगा कि **सचमुच अपने शेष जीवन का एक क्षण भी अब राग-रंग मे, विषय-कषाय में एवं इन्द्रिय के भोगों में खोना मानो अनन्त काल के लिए अनन्त दुःखो को आमत्रण देना है। नरक-निगोद में जाकर असीमित दु खो के गर्त मे गिरना है।**

धर्मेश ने अपने भाषण मे कहा - "धन-धान्य, सोना-चादी, राजपाट ये सब सासारिक सुख तो अनन्तबार मिले, अतः ये सब तो सुलभ हैं, पर तत्त्वज्ञान अनादि काल से आज तक नही मिला, इस कारण अब भी उसकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

धन-कन-कचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है ससार में एक जथारथ ज्ञान ॥

अत अब एक क्षण भी इन विषय-कषायो व राग-द्वेष मे बर्बाद करना उचित नहीं है। और सुनो! व्यवहार धर्म भी हमने बहुत बार पालन किया। इतनी बार तो हम दिगम्बर मुनि बने कि यदि हम अपने उन पिच्छि-कमण्डलु के ढेर लगाये तो सुमेरु पर्वत बराबर ढेर होगा, फिर भी तत्त्वज्ञान से अछूते रह गये। अत. अकेले व्यवहार धर्म मे ही अटके नही रहना है, बल्कि इसी जीवन मे यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है।

छहढाला में भी कहा है -

यह मानुष पर्याय सुकुल सुनवो जिनवाणी
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ।

देखो, यहाँ 'इहविध गये' पर विशेष बल है। इहविध माने धन कमाते-कमाते, धन का विविध भोगों के माध्यम से उपयोग करते-करते यदि जिन्दगी बीत जायेगी तो पुन. यह अवसर नहीं आयेगा, क्योंकि यह विषयानन्दी रौद्रध्यान है, जिसके फल मे हमे नरको मे सागरों पर्यंत अनन्त दुःख भोगने होगे।

जो धर्मशास्त्रो के स्वाध्याय को अपने जीवन का अभिन्न अग बना लेते हैं, वे तत्त्वज्ञान के बल से धीरे-धीरे अपनी इच्छाओ को जीत लेते हैं, और विषयो की नि सारता को भली-भाँति समझ लेते हैं। इसकारण उसको विषयो की इच्छा व्यर्थ लगने लगती है। वे अपने पुण्योदय से प्राप्त न्यायोपात्त सामग्री में ही संतुष्ट रहते हैं। ऐसे जीव ही सचमुच धर्मात्मा है।''

धर्मेश ने आगे कहा - ''अभी हमे धर्म से धन अधिक महत्वपूर्ण लगता है। अरे ! जिस धन के लिए हम ऐसे पागल हो रहे हैं, वह धन तो धर्मात्माओ के चरण चूमता हुआ चला आता है और धर्मात्मा उसकी ओर देखते तक नहीं हैं। क्या देखें उसे ? है क्या उसमे देखने लायक ? अत अर्थशास्त्र के साथ-साथ यदि धर्मशास्त्र का भी गहन अध्ययन किया जाये तो निश्चित ही सन्मार्ग मिलना सुलभ हो सकता है।''

धर्मेश ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा - ''जिनभावो मे हम दिन-रात मग्न हैं, उन आर्त-रोद्रभावो का फल तिर्यंच और नरक गति है।''

धर्मेश ने अपने भाषण मे यह बात आगम और युक्ति से सिद्ध करके बताई। उन्होने कहा - ''जो चक्रवर्ती चक्रवर्ती पद मे ही मरता है, वह नियम से नरक मे ही जाता है। आर्त-रौद्रध्यान से मरने वालो को इनके फल मे कैसी-कैसी गतियाँ प्राप्त हुईं, इसका विस्तृत विवरण देखना हो तो प्रथमानुयोग के पुराणों को पढो, सब पता लग जायेगा।''

सम्पत सेठ ने ऐसी बाते तो कभी सुनी ही नहीं थीं। वह तो दिन-रात इसी विषयानन्दी रौद्रध्यान मे ही डूबा रहता था। अतः धर्मेश के मुख से आर्त-रौद्रध्यान सबधी बाते सुनकर सेठ का रोम-रोम सिहर उठा, उसकी रूह काँप गई।

सेठ को विचार आया कि "मैं तो दिन-रात इन्हीं भावों में डूबा हूँ। अरे ! इतना भयंकर है इस रौद्रध्यान का फल ?"

धर्मेश का भाषण चालू था उन्होने आगे कहा - "बहुत से लोगों को तो यह भी पता नहीं होगा कि ये नरक निगोद क्या बला है? अरे भाई ! ये ऐसी दुर्गतियाँ हैं जहाँ हमें हमारे पापाचरण का भयंकर फल प्राप्त होता है, अत्यन्त दु:खद स्थिति में सागरों पर्यन्त रहना पड़ता है। यदि उन्हें यह पता होता तो वे लोग व्यर्थ ही इस आर्त-रौद्रध्यान के चक्कर में नहीं पड़े रहते, जिसके फल में ये कुगतियाँ मिलती हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए छहढाला की प्रथम ढाल पढना चाहिए।"

छहढाला की प्रथम ढाल के आधार पर नरको के विविध दु:खो का चित्रण करते हुए धर्मेश ने बताया कि - "जो लोग परिग्रह मे मग्न रहकर पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे सुख मानकर उन्हीं के सग्रह और भोगोपभोग मे अपना अमूल्य समय बर्बाद करते रहते हैं, वे लोग नियम से इन नरकों मे जाते है, जहाँ भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और परस्पर कलह आदि के अन्तहीन असह्य दु:ख भोगते हैं।"

धर्मेश ने रौद्रध्यान के फल मे प्राप्त होने वाले नरको के दु:खो का वर्णन करते हुए छहढाला की कतिपय पक्तियाँ गा-गाकर सुनाईं, जो इसप्रकार हैं -

तीनलोक कौ नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय ।
सिन्धु नीर ते प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ॥
मेरु समान लोह गल जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ।
जहाँ भूमि परसत दु:ख इसो, बिच्छु सहस डसै नहीं तिसो ॥
जहाँ राध श्रोणित वाहनी कृमि कुल कलित देह दाहनी ।
तिल-तिल करें देह के खण्ड, असुर भिड़ावे दुष्ट प्रचण्ड ॥

धर्मेश के हृदयस्पर्शी भाषण को सभी श्रोता मत्र मुग्ध हो शान्ति से सुन रहे थे। इसी बीच एक नया श्रोता रंग में भंग करता हुआ खड़े होकर जोर-जोर से बोलने लगा - "किसने देखे हैं नर्क ? यदि नर्कहुये ही नहीं तो ?

धर्मेश ने शान्तभाव से कहा - "तो क्या ? नरक न हीं भी हुये तो भी सदाचारी और अहिसक रहने मे तो लाभ ही लाभ है, हानि क्या है ? हम तो स्वस्थ्य और प्रसन्न रहेगे ही, दूसरे प्राणी भी निर्भय होकर जी सकेगे।

वैसे चाहते तो हम भी यही थे कि - ऐसी सुन्दर सृष्टि मे ऐसा पीडादायक-नरक जैसा दु.खद स्थान होता ही नही तो ही ठीक था, परन्तु हमारे-तुम्हारे चाहने और सोचने से कुछ नही होता। विश्व की व्यवस्था तो उसकी प्रकृति के अनुकूल होती ही है।

तुम थोडी देर को कल्पना करके तो सोचो - काश! नर्क-निगोद हुये तो उन दुराचारियो का क्या होगा, जिन्होने पापाचार से मुह नही मोडा। जो दिन-रात हिसा मे लिप्त रहते हैं।

दूसरी बात, भाई! जो देखा नही, वह है ही नही, यह मानना कहाँ तक उचित है ? देखा तो हमने अपने पितृ कुल के पूर्वजो को भी नहीं है, फिर भी वे थे या नही ? यदि वे न होते तो हम कहाँ से/कैसे होते हैं ?

इसी तरह और भी अनेक युक्तियो और आगम से नरक-स्वर्ग की सत्ता सिद्ध होती है।

अरे भाई ! यदि कोई एक जीव की हत्या करता है तो उसका फल एक बार फाँसी की सजा हे, परन्तु जो रोजाना अपने स्वाद के लिए अनन्त जीवो की हिसा करता हो, उसको अनन्त बार फासी जैसी सजा इस नरभव मे तो मिलना सभव नही है। अत कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ प्रति समय मरण-तुल्य दु ख हो, बस उसी स्थान का नाम नरक है, जो कि रौद्रध्यान के फल मे प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र मे लिखा भी है बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह के धारक को नरक आयु बधती है और मायाचार करने वालो को तिर्यंच आयु का बध होता है।

अभी अधिक क्या कहें ? यदि आप लोग पूरे पन्द्रह दिन ठहरोगे तो आपको यहाँ बड़े-बड़े विद्वानों के अनुभवो का पूरा-पूरा लाभ मिलेगा।

धंधा-व्यापार तो बारहों मास चलता ही रहता है और फिर यह सब संयोग तो पुण्य के आधीन हैं, जिसके पास आता है तो छप्पर फाड़कर चला आता है और जिसके भाग्य में नही होता तो दिन-रात दुकान पर बैठे-बैठे मक्खियाँ भगाया करते हैं। अतः पुण्य-पाप पर भी थोड़ा भरोसा करके समय अवश्य निकालो। अधिक क्या कहे ?"

सेठ ने उद्घाटनकर्ता के पद से बोलते हुए हाथ जोड़कर विनम्र स्वर मे कहा - "भाई धर्मेश का फरमाना बिल्कुल सही है। हम लोग व्यापारी अवश्य है, पर सचमुच व्यापार करना भी अभी हमें नही आता।

अब कुछ-कुछ यह समझ मे आ रहा है कि असली व्यापार तो आप लोग कर रहे हो। हम लोग तो सचमुच बासा खा रहे हैं, पुराने पुण्य का फल भोग रहे हैं। नई कमाई तो अभी तक कुछ भी नही की है। वह काहे का व्यापार, जिसमे घाटा ही घाटा हो, पाप ही पाप हो ? सचमुच आत्मकल्याण का व्यापार ही असली व्यापार है। मैने अबतक आप जैसे सत्पुरुषो के व्याख्यानो की उपेक्षा करके बहुत बडी भूल की है। मैं प्रयास करूँगा कि मैं आपके प्रवचनो का अधिक से अधिक लाभ लूँ।"

धर्मेश के मन मे इस बात की प्रसन्नता हुई कि सेठ ने भाषण को ध्यान से सुना और कुछ-कुछ समझने का प्रयास भी किया।

धर्मेश को विचार आया - सेठ की पकड़ भी ठीक है, बुद्धि तो विलक्षण है ही। यदि होनहार भली होगी तो सेठ का तो कल्याण होगा ही। ये पडित लोग जो सेठ के साथ में आये हैं, इनकी रुचि भी इस ओर मुड सकती है। फिर जो-जो इनके निकट सम्पर्क में होगे, इनके प्रभाव मे होंगे, उन्हे भी तत्त्व जानने की जिज्ञासा हो सकती है।

लगता है अभी तत्त्वप्रचार-प्रसार का काल पक रहा है। ऐसे मे जितनी भी जिनवाणी जन-जन तक पहुँच सके, उतना ही अच्छा है।

उद्घाटन का कार्यक्रम पूरा हुआ। अन्त में 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' इस राष्ट्रीय आत्मगीत के साथ सभा विसर्जित हुई। •

१८

सम्पत सेठ धर्मेश के आश्रम मे विशेष-अतिथि के रूप मे मात्र एक दिन के लिए आये थे, दूसरे दिन का वापिसी टिकट भी साथ लाये थे। अधिक ठहरने का उनके पास समय ही कहाँ ? बडे आदमी जो ठहरे।

बडे आदमियो को कुछ तो वस्तुत. व्यस्तता रहती ही है, क्योकि व्यापार-धधे के सिवाय अनेक सस्थाएँ उनसे जुड जाती हैं और गुड के आस-पास मक्खियो का भिन-भिनाना भी स्वाभाविक ही है, इस कारण कोई न कोई उन्हे घेरे ही रहता है।

अपना बडप्पन दिखाने के लिए कभी-कभी उन्हे कृत्रिम व्यस्तता का प्रदर्शन भी जरूरी हो जाता है।

आरामी जीवन जीने की आदत पड जाने से घर के सिवाय बाहर लम्बे काल तक ठहरना भी उन्हे कष्टप्रद लगता है। हर जगह एयरकडीशन, फ्रिज, डनलप के गद्दे, हवादार खुला बगला, नौकर-चाकर आदि घर जैसी सुविधाये तो मिल नहीं सकतीं।

इन सबके बावजूद भी धर्मेश के एक घण्टे के भाषण से ही वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने समस्त आगामी कार्यक्रम निरस्त करके तथा अनुकूलताओ-प्रतिकूलताओ की परवाह न करके, जो भी सुविधाएँ सभव थीं, उन्ही में सतोष करके पूरे पन्द्रह दिन रुककर प्रवचनो का लाभ लेने का निश्चय कर लिया।

सेठ साहब के साथ मे आए उनके ही विद्यालय मे कार्यरत पण्डित गुणधरलाल, विद्याभूषण, विवेक शास्त्री और बुद्धिप्रकाश को सेठजी के इस आकस्मिक परिवर्तन पर आश्चर्य हो रहा था। वे परस्पर बाते कर रहे थे।

पण्डित गुणधर ने कहा – "सेठजी को अचानक यह क्या हो गया ? इतना बड़ा परिवर्तन ! जो घर से केवल कौतूहलवश एक दिन को आये थे, जिन्हें ऐसे तात्त्विक प्रवचनों मे कोई खास रुचि नहीं थी, वे केवल एक घटे के प्रवचन से इतने अधिक प्रभावित हो गये हैं। ऐसा क्या जादू कर दिया सेठजी पर धर्मेशजी ने ?"

दूसरे वरिष्ठ विद्वान् विद्याभूषण बोले – "अरे भाई ! धर्मेश के प्रवचनो मे तो जादुई असर है ही, व्यवहार भी मधुर है और स्वभाव भी मिलनसार है। देखो न ! छोटे से छोटे बालको और बडे से बड़े विद्वानो को कितने स्नेह और आदरपूर्वक बुलाते है, प्रेमालाप करते हैं। मानो करुणा और स्नेह की साक्षात् मूर्ति हो। प्रवचनो के बीच-बीच मे श्रोताओ का नामोल्लेख करके सजग तो करते ही है, उन्हे महत्त्व देकर उनमे अपनापन भी स्थापित कर लेते हैं। अध्ययन भी कितना गजब का है ? शास्त्राधार के बिना तो बात ही नहीं करते।"

विवेक शास्त्री सोचने लगा – सेठ तो भावुक है ही, यह पण्डित विद्याभूषण भी गया काम से। खैर !

विवेकशास्त्री ने साथियो से कहा – "अच्छा ठीक है, अब बाते बद करो और जल्दी चलो ! प्रवचन प्रारभ हो गय ।है। लेट पहुँचेगे तो । क्या तुम्हे पता नही कि सबकी निगाहे हम लोगो पर ही रहतीं है। सेठ सहित सभी विद्वान ज्योही प्रवचनमण्डप मे पहुँचे तो धर्मेश ने उन्हे आदरपूर्वक आगे बुला लिया।

धर्मेश को सेठजी की धार्मिक अज्ञानता पर तरस तो आ ही रहा था, अपनी बात को आगे बढ़ाते हुये उन्होंने प्रवचन के बीच मे ही करुणा के स्वर मे कहा –

"सेठ साहब ! सत्तर-बहत्तर बसन्ते तो देख ही लीं होंगी ? मनुष्य की जिदगी ही कितनी है ? अधिक से अधिक शतायु हुए तो बीस-पच्चीस वर्ष ही और मिलेंगे, भरोसा तो एक पल का भी नहीं है। मान लो दस-बीस वर्ष मिल भी गये तो वे भी अर्द्धमृतक सम बूढापनों में गुजरने वाले हैं। यदि तत्त्वज्ञान

के बिना ही हमारा यह जीवन चला गया तो फिर हमे अगला जन्म कहाँ/किस योनि मे लेना पडेगा, इसका विचार हमें अवश्य करना चाहिए।

दिन-रात सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हमारे जो अधिकाश अप्रशस्तभाव रहा करते हैं, उनका क्या फल होगा ? इस बात पर कभी विचार ही नही किया हमने। यदि हम मरकर मच्छर बन गए तो हमारे बेटे ही हम पर डी डी टी छिडककर मार डालेगे। यदि अपने घर की ही खाट मे खटमल हो गए तो हमारे बेटा-बहू ही केरोसीन छिडककर हमारी जान ले लेगे। यदि कुत्ता-बिल्ली के पेट मे चले गए तो नगरपालिकाओ द्वारा पकडवाकर मरवा दिए जायेगे। यदि गाय-भैस-बैल आदि पशु हो गए तो क्या वहाँ रहने को एयरकडीशन, मच्छरो से बचने को गुडनाइट और सोने के लिए डनलप के गद्दे मिलेगे ? अरे ! खाने को मालिक जैसी सडे-गले भूसे की सानी (पशुओ का भोजन) बनाकर रख देगा, वही तो खानी पडेगी।

भगवान आदिनाथ पूजन की जयमाला को जरा ध्यान से पढकर तो देखो, वहाँ क्या लिखा है ? -

ऊँट बलद भैसा भयो, जापै लदियो भार अपार हो ।

नहि चाल्यो जठे गिर पर्यो, पापी दे सोटन की मार हो ।

यदि ऊँट, बैल, भैंसा, गधा, घोडा हो जायेंगे तो शक्ति से भी कई गुना अधिक भार लाद कर जोता जायेगा, चलते नही बनेगा तो कोडे पडेगे, लातो-घूसो से मार पडेगी, नाक छेदी जाएगी, चौबीसो घटे बाधकर रखा जाएगा। और क्या-क्या होगा ? जरा कल्पना करके तो देखे। जेठ माह की गर्मी, माघ माह की शीत और मूसलाधार बरसात मे भूखे-प्यासे खुले आकाश मे खडे रहना पडेगा। सबकुछ चुपचाप सहना होगा। कहने-सुनने लायक जबान भी नही मिलेगी।'

धर्मेश ने विषय को विस्तार देते हुये आगे कहा था -

"यदि एकेन्द्रिय-दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय हो गये तब तो दुःखो का कहना ही क्या है ? रोदे जायेगे, पैले जायेगे, गदी नालियो मे पड़े-पड़े बिल-बिलायेंगे, आग मे जला दिए जायेगे।

मछली, मुर्गी, सूअर, बकरा, हिरण जैसे दीन-हीन पशु हो गये तो मांसाहारियो द्वारा जिन्दा जलाकर भूनकर, काट-पीट कर खाया जायेगा।

यदि हम चारों गतियों के अनन्तकाल तक ऐसे अनन्त दुःख नहीं सहना चाहते हैं तो अपने वर्तमान परिणामो की परीक्षा कर लें और शास्त्रो में लिखे उन परिणामो के फल पर विचार कर ले। और सोच ले कि अब हमे अपने शेष जीवन का किस तरह सदुपयोग करना है ?

यह समाज की झूठी-सच्ची नेतागिरी, यह न्याय-अन्याय से कमाया धन, ये स्वार्थ के सगे कुटुम्ब परिवार के लोग कहाँ तक साथ देंगे ? क्या सम्राट सिकन्दर के बारे मे नहीं सुना ? उसने अनेक देशो को लूट-खसोटकर अरबो की सम्पत्ति अपने कब्जे मे कर ली थी। अन्त मे जब उसे पता चला कि मौत का पैगाम आ गया है, तब उसे अपने किए पापो से आत्मग्लानि हुई।

वह सोचने लगा - अरे ! मैने यह क्या किया ? तब उसने स्वय कहा कि 'मेरी सम्पत्ति मेरे जनाजे के साथ ले जाना और मेरे मुर्दे के दोनों हाथ बाहर निकाल देना, ताकि जगत मेरे जनाजे से कुछ सबक सीख सके। यही हुआ।

उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार ससार की असारता और लूट-खसौट के दुःखद नतीजो का ज्ञान कराने के उद्देश्य से उसकी शवयात्रा के साथ सारा लूट का माल जुलूस के रूप मे पीछे लगा दिया गया। और उसके दोनों खाली हाथ अर्थी के बाहर निकाल दिये गये।

एक फकीर साथ-साथ गाता जा रहा था -

सिकन्दर बादशाह जाता, सभी हाली मवाली हैं
सभी है साथ में दौलत, मगर दो हाथ खाली हैं।"

धर्मेश का प्रवचन सुन कर तो सेठ साहब गद्‌गद् ही हो गए। सेठ ही क्या, उस समय तो सभी की आँखे गीली हो गईं। लोग रूमाल निकाल-निकाल कर अपनी आँखें पोंछने लगे।

पण्डित विवेक शास्त्री अपने साथियो से कहने लगे - "अरे भैया ! धर्मेश की वाणी मे दम तो है, उनका प्रवचन तो लोगो को पानी-पानी कर देता है। तभी तो लोग कहते हैं कि जो वहाँ एक बार पहुँच जाता है, वहीं का होकर रह जाता है। खैर! जो कुछ हुआ, वह तो सब ठीक है, पर अब आपका क्या विचार है ? आपको वापिस घर चलना है या आप भी सेठजी के साथ साधु बनने की सोच रहे हैं ? सेठ तो भावुक है ही, तुम्हारा क्या इरादा है ?"

विद्याभूषण ने कहा - "भाई मैं भी रुकूँगा। मेरे घर पर कौन से छोटे-छोटे बच्चे रो रहे हैं ? सब अपने-अपने पैरो पर खड़े हो गये हैं, अपने को क्या ? और मैं तो कहूँगा कि तुम भी रुको। तुम्हारे यहाँ भी तुम्हारी प्रतीक्षा करने वाला कौन है ? न बीवी, न बच्चे। अकेले राम रह गये हो! समझ मे नहीं आता किस मायाजाल मे फसे हो ?"

प्रत्युत्तर मे विवेकशास्त्री ने कहा - "तुम कहते तो ठीक ही हो, पर एक बार फिर सोच लो ! लोग क्या कहेगे ? इतने बडे पडित! क्या इन्हे उस अनपढ धर्मेश के बराबर भी ज्ञान नही है जो वहाँ उसे सुनने रुक गये और लोग यह भी तो कह सकते है कि जो बाते धर्मेश बता रहा है, यदि वे बाते सही हैं तो इन विद्वानो ने हमे पहले क्यो नही बताईं?

इस तरह तो अपनी भारी बेइज्जती होगी। अत अपन को तो इसके विरुद्ध कोई ऐसी योजना बनानी होगी, जिससे कम से कम हम अपनी प्रतिष्ठा तो कायम रख सके।"

ऐसे ऊहापोह मे गुणधर और विवेक शास्त्री तो अपनी झूठी प्रतिष्ठा के खातिर शिविर के अधबीच मे ही वापिस घर चले गये, पर विद्याभूषण और बुद्धिप्रकाश का हृदय परिवर्तित हो गया था, अत: वे सम्पत सेठ के साथ शिविर मे पूरे पन्द्रह दिन तो रुके ही शिविर के बाद भी एक माह रुककर तत्त्वज्ञान का भरपूर लाभ लिया।

•

११

पिछली कुछ दशाब्दियो से धर्म की साधना केवल पूजा-पाठ, विधि-विधान, व्रत-उपवास, जप-तप तक ही सीमित हो गयी थी। स्वाध्याय मे केवल कथा-पुराण पढने का ही रिवाज रह गया था। बहुत हुआ तो त्यागी-व्रती व पण्डित वर्ग करणानुयोग के गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की मोटी-मोटी चर्चा करके अपने मे सतुष्ट हो लेते थे। एक तरह से अध्यात्म की धारा अवरुद्ध ही हो गई थी। इस कारण धर्म-ध्यान की सीमाये पुण्य-पाप की धूप-छाँव तक *ही सीमित होकर रह गई थी, वीतराग के धर्मधाम तक पहुँच ही नहीं पाई।*

धर्म की यह स्थिति देख धर्मेश को विचार आया कि - लौकिक बाते बताने को तो लौकिकजन ही बहुत है। धर्म पुरुषो से तो विशुद्ध धर्मोपदेश और तत्त्व की चर्चा ही अपेक्षित है। अन्यथा और कौन करेगा यह अध्यात्म की चर्चा ?, जिससे जैनधर्म जीवित है, जो जैनदर्शन का प्राण है।

दया-दान, खान-पान, पूजा-पाठ आदि तो सभी दर्शनो मे लगभग समान ही है। जैनधर्म की यदि कोई विशेषता है और जिस कारण यह अन्य दर्शनो से भिन्न है, वह तो एकमात्र अध्यात्म ही है। अतः इसकी चर्चा तो हर हालत मे होना ही चाहिए।''

धर्मेश ने यह महसूस किया और देखा कि अभी अध्यात्म का क्षेत्र पूरी तरह खाली पडा है। अतः उसने इस रिक्तता को भरने का मन ही मन सकल्प कर लिया।

धर्मेश का यह सोच एव सकल्प सही समय पर सही निर्णय साबित हुआ। लोग पिपासु थे। धर्मामृत पान कर वे प्रसन्न हुए, संतुष्ट भी हुए। लोगों मे तत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा जगी और दिन-प्रतिदिन सब ओर से लोग धर्मेश के पास पहुँचने लगे।

उसने सोचा – जिस दर्शन मे समयसार, प्रवचनसार जैसे वस्तुस्वरूप के निरूपक, सर्वज्ञता, अकर्तत्ववाद और वस्तुस्वातत्र्य को सिद्ध एव प्रसिद्ध करने वाले ग्रन्थराज हो और मोक्षमार्गप्रकाशक जैसा सन्मार्ग दर्शक प्रकाश स्तम्भ हो, वहाँ यह आध्यात्मिक दृष्टिहीनता का अधकार क्यो ? समझ मे नहीं आता अध्यात्म की इस उर्वरा भूमि पर यह आध्यात्मिक दरिद्रता क्यो ?

आध्यात्मिक वातावरण की कमी का एकमात्र कारण अरुचि एव अपरिचय ही है। इस दिशा मे प्रयत्न किया जाये तो आशातीत लाभ हो सकता है।

यह सोचकर धर्मेश ने नियमित प्रवचन और कक्षाये प्रारम्भ कर दीं। धीरे-धीरे अध्यात्म की गध चारो ओर फैलती ही चली गई।

थोडे ही दिनो मे धर्मेश बहुचर्चित हो गया। उसके बारे मे अनेको लोग अनेक प्रकार से बाते करने लगे।

एक ने कहा – "धर्मेश की वाणी मे न जाने ऐसा क्या जादू है। उसके प्रवचनो मे सब शान्तभाव से बैठे-बैठे मन ही मन ऐसे प्रसन्न होते है, मानो वे आनन्द सागर मे डुबकियाँ लगा रहे हो।"

दूसरे ने कहा - "हाँ भाई ! देखो न ! चाहे वह श्रीमत सेठ हो, बडे से बडा विद्वान् हो, लोकमान्य राजनेता हो, सर्वोच्च शिक्षा-शास्त्री हो, प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार, कवि अथवा लेखक हो। जिलाधीश, न्यायाधीश, वक्ता, अधिवक्ता कोई भी क्यो न हो ? सभी उसके व्यक्तित्व और वाणी पर रीझ रहे हैं।

यद्यपि धर्मेश सस्कृत-प्राकृत नही जानता था, पर उसने सत्यान्वेषण मे कोई कोर-कसर नहीं रखी। उसने जिनवाणी रूपी ज्ञानगगा मे गहरे गोते लगाये।

यह छोटी-सी ज्ञानगोष्ठी इतने जल्दी इतना विशाल रूप धारण कर लेगी, धर्मेश को भी इसकी कल्पना नही थी।

निश्चित ही उस प्रचार-प्रसार के पीछे धर्मेश की हार्दिक लगन, व्यवस्थित मति, उदारवृत्ति, गुणग्राहकता, निश्छलहृदय, सरलस्वभाव, नियमित दैनिकचर्चा, सत्यान्वेषण की सूक्ष्मदृष्टि और प्राप्त तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की निःस्वार्थ पवित्र व प्रबल भावना ही प्रमुख कारण हैं। इन्ही कारणो से देश के कोने-कोने से धर्मप्रेमी एव तत्त्वरसिक लोग उससे जुड़ते जा रहे हैं।" ●

२०

टन. टनन टन टन करते ज्योही घडी का नवाँ घटा बजा नहीं कि ॐकार ध्वनि के साथ धर्मेश का प्रात.कालीन प्रवचन प्रारम्भ हो गया।

उन्होने कहा - "विपरीतमिथ्यात्व, एकातमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व के वशीभूत होकर हमने ऐसे-ऐसे घोर पाप किए हैं, जिनका वर्णन इस वाणी से नहीं किया जा सकता। जैसा कि आलोचना पाठ मे पहले विस्तार से कह ही आये है -"

विपरीत मिथ्यात्व के रूप मे हो रही जीव की सबसे बड़ी भूल को धर्मेश ने उदाहरण देकर समझाया - "जैसे कोई व्यक्ति हीरा को तो पहचाने नही और काँच को ही हीरा मानकर काँच के बदले हीरे के दाम दे दे तो ठगाया ही जायेगा। उसी तरह कोई वीतराग-सर्वज्ञ देव को तो पहचाने नही और उनके स्थान पर रागी-द्वेषी-मोही देवगति के देवो को अथवा अन्य अदेवो को देव मानकर भगवान की तरह पूजने-मानने लगे तो वीतरागतारूप हीरा तो उसके हाथ लगेगा नही, मोक्षरूपी रत्नत्रय का व्यापार तो होगा नहीं, राग-द्वेष-मोह के झमेले मे ही उलझ जायेगा।

जो स्वय दु.खी हैं, वे हमे सुखी कैसे करेंगे ? इस तरह वीतरागीदेव से विपरीत रागी-द्वेषी देवगति के देवो को मानने-पूजने वाला विपरीत मिथ्यादृष्टि है।

इसीतरह ज्ञानानदस्वभावी, अनादिअनंत, अखंडअनत, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा के स्वरूप को तो जाने-पहचाने नहीं और इसके विपरीत जड़ देह व चेतन जीव को एक मानकर अथवा जड़ देह को ही चेतन जीव मानकर जीव को ज्ञानानंद स्वभाव के विपरीत सुखी-दु:खी, नाशवान, रागी-द्वेषी-मोही मान ले तो वह विपरीत मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसने आत्मा के स्वरूप को यथार्थ न जानकर जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा की।

इसीप्रकार जो अजीव तत्त्व को अजीव न मानकर शरीर की उत्पत्ति में अपनी आत्मा की उत्पत्ति, शरीर के नाश मे आत्मा का नाश मानकर विपरीत श्रद्धा करते हैं। आस्रव एव बध तत्त्व जो आत्मा के विकार हैं, दु.खदायी हैं, उनका सेवन करके आनन्द मानते हैं, सवर-निर्जरा जो सुखद व सुखस्वरूप है, उन्हे कष्टदायक मानते हैं। मोक्ष को कर्मबन्ध से मुक्ति के रूप मे सिद्धस्वरूप न मानकर विभिन्न रूपो मे आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व को समाप्त हुआ ही मानते हैं। वे विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं।

इस प्रकार सात तत्वो के बारे मे हुई विपरीत मान्यता विपरीत मिथ्यात्व है। छहढाला मे कहा भी है -

ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निजपिछान।

दूसरी भूल एकान्त मिथ्यात्व के रूप मे होती है - इस मिथ्यात्व के वश मे हुए जीव को अनेकान्तमय धर्म मे दृढ आस्था उत्पन्न नही होती। लोक के समस्त पदार्थ या वस्तुये अनत धर्ममय है, अनत गुणमय हैं, अनत शक्तियो से सम्पन्न हैं। वस्तुओ मे वस्तुत्वपने को निजपाने वाली - सिद्ध करने वाली परस्पर विरोधी शक्तियो को धर्म या अन्त कहते है **अनेके अन्त येषा ते अनेकान्त** इस सूत्र वाक्य क अनुसार जिन वस्तुओ मे परस्पर विरोधी अनेक गुण, धर्म या शक्तियाँ होतीं है, उन सभी वस्तुओ का एक नाम अनेकान्त है। जो वस्तुओ के ऐसे अनेकान्त स्वरूप को न मानकर मात्र उनके किसी एक ही धर्म या स्वभाव को स्वीकार करते हैं, वे एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्मा अनादि-अनत होने से नित्य भी है और प्रति समय परिणमन करने की अपेक्षा अनित्य या क्षणिक भी है, पर एकान्तत: या तो नित्य ही मानना या क्षणिक ही मानना। आत्मा की भाँति ही अन्य सब पदार्थो को भी एकातत नित्य या अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

इसीप्रकार लोक की सभी वस्तुओ मे अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत् आदि परस्पर विरोधी अनेक धर्म (स्वभाव) हैं। उन्हे नय सापेक्ष न मानकर सर्वथा अस्तिरूप या नास्तिरूप ही मानना। एकान्तत. एक रूप ही अथवा अनेक रूप ही मानना, जबकि आत्मवस्तु अभेद अखण्ड होने

से एक भी है और गुण भेद होने से अनेक भी है - पर एकान्त मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं मानता। बस यही उसका एकान्त मिथ्यात्व है। इसीतरह और भी समझना। जैसे - कोई 'पुरुषार्थ से ही कार्य होता है'- ऐसा पुरुषार्थ का एकान्त करके अन्य समवायों का सर्वथा निषेध करते हैं तो कोई भाग्य के भरोसे ही बैठकर पुरुषार्थ का निषेध करते हैं, जबकि कार्य के होने मे सभी समवायो का अपना-अपना स्थान है। हाँ, कथन मे कहीं कोई एक मुख्य होता है तो कहीं कोई दूसरा।

पडित टोडरमलजी ने जैन एकान्तियो को तीन वर्गो मे बाँटा है:- (१) निश्चयाभासी (२) व्यवहाराभासी (३) उभयाभासी

कोऊ नय निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान ,
भयो है सुछन्द न पिछाने निज शुद्धता ।
कोऊ व्यवहार-दान-शील-तप भाव को ही ,
आत्मा को हित मान छांडत न मुद्धता ॥
कोऊ नय निश्चय व व्यवहार के मारग को ,
भिन्न-भिन्न पहचान करै निज उद्धता ।
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब ,
कारण है उपचार माने तब बुद्धता ॥

तीसरी बडी भूल विनय मिथ्यात्व के रूप मे होती है, क्योकि 'विनय' पाप भी है, पुण्य भी है और धर्म भी है। मिथ्यात्व मे 'विनयमिथ्यात्व' सबसे बडा पाप, सोलह कारण भावना में 'विनयसम्पन्नता भावना' सबसे बडा पुण्य तथा तपो मे 'विनय नामक तप' सबसे बड़ा धर्म है। तीनों मे नाम साम्य होने से भ्रमित होने के अवसर अधिक हैं, अतः इन्हे अच्छी तरह समझकर विनय मिथ्यात्व छोड़ने योग्य है।

रागी-द्वेषी एवं विषय-कषायों में रचे-पचे, कुगुरु, कुदेव व कुधर्म को भी मानना-पूजना तथा वीतरागी देवों को भी मानना-पूजना; वीतरागी एवं रागी देवों एवं निर्ग्रन्थ व सग्रंथ गुरुओं को समान आदर देना - यह विनय मिथ्यात्व है। ऐसा करने से वीतरागी देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु का अवर्णवाद तो

होता ही है, भोले जीवो को भ्रमित होने और सन्मार्ग से भटक जाने के अवसर बहुत बढ़ते जाते हैं। कुछ लोग इसे धार्मिक उदारता, हृदय की विशालता, सरलता आदि का जामा पहनाने का प्रयास करते है, जो ठीक नहीं है। किसी की निन्दा न करना, टीका-टिप्पणी न करना, विवादस्थ विषयो को न छेडना जुदी बात है और सबको एकसा आदर-सम्मान देना या पूज्यभाव रखना बिल्कुल जुदी बात है। उदारता के नाम पर दोनो को एक कोटि मे नही रखा जा सकता। धर्म की श्रद्धा बिल्कुल व्यक्तिगत विषय है, इसमे सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के सूत्र कतई बाधक नही हैं। अत. यहाँ सर्वाधिक विवेक की आवश्यकता है।"

सशय मिथ्यात्व का स्पष्टीकरण करने के लिए धर्मेश ने सशय मिथ्यादृष्टि के विचारो का सहारा लेकर समझाया। उन्होने कहा - "सशय मिथ्यादृष्टि सोचता है कि इस कलिकाल मे कोई प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ तो है नही, शास्त्रो के कथन परस्पर मिलते नही हैं, सर्व धर्मों के साधुजन भी एक मत नही है। जैनदर्शन मे यदि सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र को मोक्षमार्ग कहा है, तो अन्य मतो मे किसी ने मात्र ज्ञान को मुक्ति का मार्ग कहा हे ओर किसी ने भक्ति को। सभी मतवाले भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते है। कुछ निश्चय ही नही हो सकता कि कौन सत्य है, कोन मिथ्या है ? इसलिए जिस धर्म के मार्ग पर हमारे पूर्वज चले आ रहे हैं वही ठीक है। तत्त्व से अनजान अज्ञानी का ऐसा अनिश्चय ही सशय मिथ्यात्व है।"

अज्ञान मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए धर्मेश ने समझाया - "हिताहित की परीक्षा रहित परिणाम ही अज्ञान मिथ्यात्व है। जिसके ऐसे विचार हो कि स्वर्ग-नर्क एव मोक्ष किसने देखा ? स्वर्ग के समाचार किसके पास आये ? पाप-पुण्य क्या चीज है ? ये कहाँ लगते हैं ? किससे चिपकते हैं ? अरे स्वर्ग-नर्क सब कहने मात्र के हैं। धर्म भोले-भाले डरपोक लोगो को डराने-धमकाने व आतकित करके उन्हे ठगने का धंधा है। सचमुच तो यहाँ ही सब स्वर्ग-नर्क हैं। सुखी जीवन ही स्वर्ग है और दु खी जीवन ही नर्क ।

पुण्य-पाप एव धर्म-अधर्म से सर्वथा अनजान अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार की बातें करके सर्वज्ञ एव सर्वज्ञ कथित तत्त्वों का ही निषेध करते

हैं तथा पाँचों पापो एव पाँचो इन्द्रियो के विषयों में स्वछन्द प्रवृत्ति करते हैं। भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई पता नहीं, नीति-अनीति का कुछ विवेक नहीं, देव-अदेव-कुदेव का कुछ भी निर्णय नहीं, ऐसा अज्ञान रूप अभिप्राय ही अज्ञान मिथ्यात्व है।

ऐसी मान्यता वाले लोग कहा करते हैं कि 'जब जो होगा सो देखा जायेगा।' सो मन बहलाने के लिये उनका यह ख्याल अच्छा हो सकता है, परतु यह समस्या का सही समाधान नही है। यह तो समस्या को आगे धकेलना हुआ। अथवा उस ओर से आँख मीचना हुआ। वस्तुतः तो समस्या को सामने रखकर उसका सही समाधान खोजना ही बुद्धिमानी है।

यह पाँचो प्रकार का मिथ्यात्व गृहीत भी होता है और अगृहीत भी। इसके वश घोर पाप होता है। अत सर्वप्रथम आगम के अभ्यास से इसका अज्ञान मिथ्यात्व समूल नाश करना होगा। तभी सन्मार्ग मिल सकेगा।

जो अन्तिम पाँचवे प्रकार के अज्ञान मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा और सर्वज्ञ की सत्ता मे विश्वास नही करते, उन्हे इनके अस्तित्व का बोध कराने के लिए तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पुण्य-पाप, नर्क-स्वर्ग किसी ने नही देखे तो अपने पूर्वजो को भी तो किसी ने नही देखा। वे थे या नही ? जिस युक्तियो से इनको मानते हैं, वे ही युक्तियाँ स्वर्ग-नर्क की प्रसिद्धि करती है।

जरा सोचिये - हम सब की शकल एक सी नहीं है, अकल भी एक-सी नही है, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियाँ भी एक-सी नही हैं। आखिर ऐसा क्यो ? उत्तर होगा - सबके परिणाम एक से नहीं होते। पुण्य-पाप का बध एक-सा नहीं होता। जिसने जैसे शुभ-अशुभ परिणाम किए तदनुसार उसके पुण्य-पाप का बध हुआ। उसके फलस्वरूप ही यह विविधता पाई जाती है। यदि ऐसा नही होता तो जन्म से ही कोई सुखी व कोई दुःखी क्यो है ? यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो जन्म से ही व्यक्ति प्रतिभावान नहीं हो सकता था। जिसे लोक मे ईश्वरीय देन कहा जाता है, गॉड गिफ्ट माना जाता है, वह सचमुच और कुछ नहीं, पूर्वजन्म के संस्कार ही हैं।"

धर्मेश ने आगे कहा - "देखो, भाई! जैन होने के नाते इतना तो आप जानते ही होंगे कि जैनधर्म श्रद्धा एव भावना प्रधान धर्म है। सम्यक् एवं मिथ्या श्रद्धा और शुभाशुभ भावो से ही धर्म-अधर्म एवं पुण्य-पाप होता है, बाह्य शारीरिक क्रियाओ से नहीं। पर बाहरी दैहिक क्रियाये भी अतरग भावो का ही अनुसरण करतीं हैं। यदि अन्दर आत्मा मे क्रोध भाव है तो मुखाकृति पर भी क्रोध की रेखाये दिखाई देने लगतीं हैं, भृकुटी तन जाती है, आँखे लाल हो जातीं है, ओष्ठ फड़कने लगते हैं और काया काँपने लगती है।

पर ध्यान रहे, पापबन्ध अतरग आत्मा मे हुए क्रोध भाव से ही होता है, बाह्य शारीरिक विकृति से नही। शारीरिक चिन्ह तो मात्र अतरग भावो की अभिव्यक्ति करते है, उनसे पाप-पुण्य नही होता।

इसी तरह जब अन्तरग मे जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का शुभभाव होता है तो बाहर मे तदनुकूल यथायोग्य अष्टाग नमस्कार, तीन प्रदक्षिणा आदि शारीरिक क्रियाये भी होतीं ही है।"

अतरग-बहिरग व्याप्ति का ज्ञान कराते हुए धर्मेश ने अपने प्रवचन मे कहा - "अन्तरग मे जिनके पूर्ण समताभाव हो, वीतराग परिणति हो तो बाहर मे उनकी परमशान्त मुद्रा ही दिखाई देगी। न हसमुख न उदास। ऐसा ही सहज सबध होता है अन्तरग-बहिरग भावो का। इसे ही निमित्त-नैमित्तिक सबध भी कहते हैं।

इसलिए कहा जाता है कि भावना भवनाशनी-भावना भववर्धनी अर्थात् भावो से ही भव अर्थात् ससार मे जन्म-मरण के दु.ख का नाश होता है और भावो से ही जन्म-मरण का दु.ख बढता है।"

पाँचो प्रकार के मिथ्यात्व एव शुभाशुभ भावो की सामान्य चर्चा के पश्चात् हिसा-अहिसा आदि की चर्चा करते हुए धर्मेश ने कहा - "पूर्ण पवित्र भावना से पूर्ण सावधानीपूर्वक डॉक्टर के द्वारा रोगी को बचाने के प्रयत्नो के बावजूद यदि आपरेशन की टेबल पर ही रोगी का प्राणात हो जाता है तो डॉक्टर को दोषी नहीं माना जाता, हिसाजनित पापबंध भी नही होता। वैसे ही चार हाथ

आगे जमीन देखते हुए चलने पर भी यदि पैर के नीचे कोई सूक्ष्म जीव मर जाता है तो मुनिराज को भी हिसा का किंचित् दोष नहीं लगता।

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है तथा आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है - यही जिनागम का सार है।

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन मे पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म जीवो के भावों एवं श्रद्धा पर निर्भर करता है। जिन कार्यों मे जैसी श्रद्धा एवं भावनाये जुड़ी होंगीं, कर्मफल उनके अनुसार ही प्राप्त होगा।

हिसा-अहिसा की भाँति झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापो एवं धर्म-अधर्म के विषय मे भी समझ लेना। आत्मा के घातक होने से झूठ-चोरी-कुशील व परिग्रह पाप भी हिसा मे ही गर्भित है। सब आत्मघाती होने से हिंसा के ही विविध रूप है, जो कि महादु:ख दाता होने से सर्वथा त्याज्य हैं। परतु पता नही फिर भी लोगो ने इन्हे खिलौना क्यो समझ रखा है ? शिकार जैसी सकल्पी हिसा, कुशील जैसा अनर्थकारी पाप तथा जुआ और नशा जैसे दुर्व्यसनो को भी जिन लोगो ने मनोरजन का साधन समझ रखा है। बलिहारी है उनकी इस बुद्धि को। सचमुच लोगो की बुद्धि पर पत्थर पडे हुए है, आँखो पर अज्ञान की पट्टी बधी हुई है। काश ''

कहते-कहते धर्मेश का गला भर आया और वह चुप हो गया।

समय भी लगभग हो ही चुका था। जिनवाणी स्तुति के साथ सभा विसर्जित हुई, सभी लोग भावुक हृदय से अपने-अपने निवास की ओर जाते हुए मार्ग के प्रवचन के अशो की चर्चा करते जा रहे थे।

एक ने कहा - ''यह मिथ्यात्व भी क्या बला है ? आत्मा रूपी घर के कोनो मे चूहो की तरह कहाँ-कहाँ छुपा रहता है और तत्त्वज्ञान के महत्वपूर्ण दस्तावेजों को, सयम और सदाचार के कीमती कपड़ो को कुतरता रहता है।''

दूसरा बोला - ''हाँ भाई ! देखो न ! विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान मिथ्यात्व धर्म का भेष धारणकर जीव के साथ धोखा-धड़ी करने से

भी तो नहीं चूकते। चालाक भी कितने हैं। अच्छे-अच्छे पडितो को भी चक्कर में डालकर परस्पर लडा-भिड़ा देते हैं। पार्टीबन्दी खड़ी कर देते है और सबका नेतृत्व करने लगते है।"

तीसरा बोला - "इसलिए तो गुरुदेव धर्मेशजी ने सावधान किया है कि इन मिथ्यात्व भावो से सावधान रहो और इनकी चालो को समझने की कोशिश करो। अन्यथा ये पुनः निगोद की हवा खिलाये बिना नहीं मानेंगे। जहाँ जीवो को जड़वत होकर अनन्त काल तक रहना पड़ेगा।"

चौथे ने कहा - "यदि आपने ध्यान से सुना हो तो गुरुदेव ने एक दिन अपने प्रवचन मे मिथ्यात्व पर टिप्पणी करते हुए लाटी सहिता का एक श्लोक सुनाया था। जिसका भावार्थ यह है कि - मिथ्यात्व सहित जीवन जीने से तो सर्प के मुख मे प्रवेश करना अच्छा है। विषभक्षण कर लेना अच्छा है। दावाग्नि मे भस्म हो जाना या पानी मे डूबकर मर जाना अच्छा है, पर मिथ्यात्व सहित जीवन जीना किसी भी हालत मे अच्छा नही है, क्योकि इन सबके कारण तो एक भव ही नष्ट होता है, पर मिथ्यात्व के कारण तो भव-भव मे दु ख भोगने पडते हैं।

यह सब पापो की जड है, पापरूपी वृक्ष का बीज है, नरक रूपी घर का प्रवेश द्वार है, स्वर्ग मोक्ष का शत्रु है।[१]

अतः हे भव्य जनो । तुम इसको दूर से नमस्कार कर लो। इसे अपने पास न फटकने दो।"

चौथे व्यक्ति के मुख से गुरुदेव का यह सदेश सुनकर सुनकर सभी श्रोताओ ने सकल्प किया कि सबसे पहले इस मिथ्यात्व को ही जडमूल से उखाडने का प्रयत्न करेंगे। तभी हमारा सारा श्रम सार्थक होगा। •

---

१ वर सर्प मुखं वासो, वर च विषभक्षणम् ।
अचलाग्नि जले पातो, मिथ्यात्वे च जीवितम् ॥
सकल दुरित मूलं, पाप वृक्षस्य बीजम् ।
नरक गृह प्रवेश स्वर्ग मोक्षैक शत्रुम् ॥

२१

धर्मेश अपनी नियमित चर्या के अनुसार सायंकालीन भोजन के बाद अपने साथी और शिष्यों के साथ पर्यटन को जा रहा था कि रास्ते में उसे एक दिन एक घर के अदर से सुमधुर स्वर मे एक आध्यात्मिक भजन सुनाई दिया। धर्मेश का ध्यान उस भजन के बोलों पर अटक गया और वह उस भजन को कान देकर सुनने लगा। भजन के बोल थे -

परिणति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी ।
एकपुण्य एक पाप, एक राग हरनी ॥
तामें शुभ-अशुभ अन्ध, दोय करे कर्मबन्ध ।
वीतराग परिणति ही, भव समुद्र तरनी ॥ परिणति ०

एक साथी ने पूछ लिया - "धर्मेश जी! आप चलते-चलते रुक क्यों गये ? क्या बात है ऐसी इस सगीत मे ?"

धर्मेश ने कहा - "संगीत मे तो कोई खास बात नहीं है; पर भजन का प्रत्येक बोल विचारणीय है। देखो न ! क्या-कहा ? यदि भवसमुद्र से पार होना हो तो वीतराग परिणति रूपी तरणी (नौका) ही हमे इस संसार सागर से पार उतार सकती है। अत: हमें शुभाशुभ भावों से मैली अपनी परिणति को त्याग कर जैसे बने वैसे - मौत की कीमत पर भी अपने में वीतराग परिणति पैदा करने का पुरुषार्थ जगाना होगा।

अपनी इस मिथ्यात्व से मैली, कषाय से कलुषित तथा राग से रंजित परिणति की हमें कुछ भी खबर नहीं है। सब 'अपनी-अपनी ढपली व अपने-अपने राग' अलापने में मस्त हैं, मदोन्मत्त हैं। किसी को भी यह परवाह नहीं है कि यदि इसी परिणत्ति में हमारा मरण हो गया तो हम मर कर कहाँ जायेंगे ? क्या गति होगी हमारी ?

अतः क्यों न आज की ज्ञान गोष्ठी मे इसी विषय पर थोड़ी चर्चा करें ? ताकि लोग इस दिशा मे भी सोचें और निरन्तर हो रही आर्त-रौद्रध्यान रूप खोटी परिणति के दुष्परिणामो से बच सके।''

रात के सात बजने को ही थे कि धर्मेश अपने निश्चय के अनुसार चर्चा करने अपने आसन पर जाकर बैठ गये। सात बजते-बजते यथा समय सब श्रोता भी आ गये और जिसे जहाँ जगह मिली, चुपचाप बैठ गये।

ज्यों ही धर्मेश ने मनमोहन को आगे बुलाया तो वहाँ बैठे सभी व्यक्तियो की निगाहे दरवाजे मे प्रवेश करते मनमोहन की ओर मुड गई। अनेक लोगो के चेहरो पर प्रश्नचिन्ह उभर आये। गुरुदेव मनमोहन जैसे व्यक्ति को इतना सम्मान क्यो दे रहे है ?

उन्हे क्या पता था कि धर्मेश ने मनमोहन को जीवन दान दिया था, मौत के मुँह से बचाया था - यह रहस्य केवल धर्मेश और मनमोहन के बीच ही सुरक्षित था। धर्मेश से सहानुभूति एव स्नेह पाकर मनमोहन मानो कृतार्थ हो गया था। वह आगे आकर चुपचाप नीची निगाहे करके सहमा-सहमा सा बैठ गया। दो मिनट तक जब कही से कोई प्रश्न नही पूछा गया तो धर्मेश के चित्त मे जो ध्यान सम्बन्धी चिन्तन चल रहा था, उसे ही चर्चित करने के लिए उसने अपने सामने बैठे मनमोहन के चिन्ताग्रस्त चेहरे को प्रकरण का मुद्दा बनाकर कहा -

''मनमोहन ! तुम्हारे मुख-मण्डल पर जो रेखाये हम देख रहे है, वे रेखाये तुम्हारे मनोगत भावो को बता रहीं है कि तुम इस समय किस भाव मे विचर रहे हो ? तुम्हारा मनोगत भाव तुम्हारे चेहरे पर स्पष्ट झलक रहा है। निश्चित ही तुम्हारी परिणति किसी कषाय के कुचक्र मे फसी है, राग-द्वेष के जंजाल मे उलझी है, मोह-माया से मलिन हो रही है अथवा कहीं किसी सयोग-वियोग की आशका की आँधी मे किकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही है।

जानते हो इस परिणति के रूप मे तुम्हे यह कौनसा 'ध्यान' हो रहा है ? और इसका क्या फल होगा ?

धर्मेश की बातें सुनकर मनमोहन स्तब्ध रह गया। उसने मन ही मन सोचा - ध्यान? मैंने तो आज तक कभी कोई ध्यान किया ही नहीं, मुझे ध्यान करना आता ही कहाँ है ? मैंने कभी ध्यान करने का सोचा भी नहीं। ध्यान करना तो साधु-सतो का काम है। पिता के निधन के बाद मुझे तो दिन-रात घृत, नमक, तेल, तदुल और परिवार की चिन्ता में धर्मध्यान करने की बात सोचने की भी फुर्सत नही मिली। क्या चिन्ता-फिकर करना भी कोई ध्यान हो सकता है ? मेरे माथे पर चिता की रेखाएं हो सकती हैं, पर माथे की उन लकीरो मे ऐसा क्या लिखा है जो धर्मेश ने पढ़ लिया है। मैंने तो इस विषय मे किसी से कुछ कहा भी नही है। ये अर्न्तयामी कब से बन गये ? कमाल है।

मनमोहन को स्तब्ध और चिन्तित मुद्रा मे देख धर्मेश ने पुनः कहा -

"मैं समझ गया कि तुम क्या सोच रहे हो ? किस चिन्ता मे घुल रहे हो? मनमोहन तुम दुर्व्यसनो से तो मुक्त हो गये; पर पश्चात्ताप की ज्वाला मे अभी भी जल रहे हो। तुम्हे पता नहीं, यह शोक संतप्त परिणति भी तुम्हे इस संसार सागर से पार नही होने देगी।

यह भी एक सहज सयोग ही है कि आज तुम अनायास गोष्ठी में आ गये और आज ही अनायास जीवो की विविध परिणतियो से परिचय कराने वाला ऐसा क्रान्तिकारी मार्मिक भजन हमारे सुनने मे आ गया, जिसने हमारे मन-मस्तिष्क को आन्दोलित कर दिया और हमने तभी यह सकल्प कर लिया कि आज की ज्ञानगोष्ठी मे हम जीवों की परिणति की ही चर्चा करेंगे। तुम्हे चिन्ताग्रस्त देखकर हमे यह चर्चा अधिक उपयोगी लगने लगी है। सच है, जब कोई भला काम बनना होता है, तब ऐसे बनाव सहज ही बन जाते हैं। नेक-निमित्त भी वैसे ही मिल जाते हैं। हम जानते हैं कि तुम जिन भावों में जी रहे हो, वह कौनसा ध्यान है ? तुम इस समय यह कुछ नहीं बता सकोगे। पर हमारे प्रश्न से तुम्हारे मन में जो उथल-पुथल हुई है, जो प्रश्न उभरे हैं, जो जिज्ञासा जगी है, वह जिज्ञासा ही तुम्हें समाधान ढूंढने के लिए विवश करेगी।"

मनमोहन ने विनम्र भाव से कहा - "गुरुजी। जीवों की विविध परिणतियों से परिचय कराने वाले उस भजन को एव उसके क्रान्तिकारी भावों को हम भी सुनना चाहते हैं, यदि सभव हो तो आज इसी विषय पर चर्चा हो जाये, बड़ी कृपा होगी आपकी।"

धर्मेश ने कहा:- "अहा। क्या भावपूर्ण भजन था वह। प्राचीन कवियो की काव्य-कला एवं भाषा-शैली तो सरस है ही, भाव भी कैसे गजब के हैं इन आध्यात्मिक भजनो मे।

'परिणति सब जीवन की तीन भाँति वरनी।'

इस भजन मे जीवो की परिणति का परिचय कराते हुए कवि कहता है कि 'शुभ और अशुभ दोनो ही परिणतियाँ अध हैं और कर्मबन्ध की कारण हैं। अहा। एकमात्र वीतराग परिणति ही भव समुद्र से तारने वाली तरणी है, ससार सागर मे गोते खाते प्राणियो को पार उतारने वाली नौका है।

जिसप्रकार नौका व्यक्तियो को नदी व समुद्र के इस पार से या मझधार से उस पार पहुँचा देती है, उसीप्रकार वीतराग परिणति रूप तरणी जीवो को ससार सागर से तार देती है, भव समुद्र पार लगा देती है।"

धर्मेश द्वारा प्रस्तुत की गई चर्चा का रस परिपाक हो ही रहा था कि मनमोहन बीच मे ही बोल पडा - "गुरुजी। आपका फरमाना बिल्कुल वाजिब है, सत्य है, परन्तु हम जैसे पापी जीव क्या करें ? कम से कम हम जैसों को तो अभी पाप छोडने एव पुण्य करने का ही उपदेश उपयुक्त है। हम लोगो मे तो अभी इन्सानियत भी नही है, पहले हम इन्सान तो बन ले, तभी तो भगवान बनने की बाते सार्थक होगीं ?"

मनमोहन का यह बीच मे बोलकर रग मे भंग करना लोगो को पसन्द नही आया। एक ने दूसरे के काम मे कानाफूसी की - "धर्मेश गुरुजी ने इस मनमोहन को आगे क्या बुला लिया, इसके तो भाव ही बढ़ गये, हौंसले ही बुलन्द हो गये। किसी विचारक ने ठीक ही कहा - छोटे व्यक्ति को जरूरत से ज्यादा मान मिल जाये तो वह उसे पचा नहीं पाता।"

पास में बैठे तीसरे ने कहा - "तुम भी क्या आदमी हो, खुसर-फुसर करते ही रहोगे। कुछ चर्चा भी सुनने दोगे या यों ही अपना व दूसरों का समय बर्बाद करते रहोगे ?"

मनमोहन की बात सुनकर पहले तो धर्मेश थोड़े मुस्कुराये, फिर धीरज के साथ बोले - "भाई ! पाप छोड़ने का उपदेश तो सारी दुनिया परस्पर में भी एक-दूसरे को देती ही रहती है। और देना भी चाहिए। पर यहाँ विचारणीय बात यह है कि जो पापी पाप करते हैं, दिल से वे भी उसे बुरा मानते हुये अपनी मजबूरी से ही करते हैं और हम भी समय-समय पर पाप त्यागने की बात कहने से नहीं चूकते, परन्तु तुम ही बताओ! कितनो ने छोड़ दिया पाप करना ऐसे उपदेशो से ? भाई! तत्त्वज्ञान के बिना पापप्रवृति नहीं छूट सकती ! कषाय की मन्दता-तीव्रता में पापों की हीनाधिकता तो होती रहती है, पर पाप जड़-मूल से नहीं जाते।

अरे भाई ! जब इस बात को बच्चा-बच्चा जानता है कि पाप बुरे हैं, तो फिर उसके लिए उपदेश की जरूरत ही कहाँ रह जाती है? फिर भी इसके उपदेशदाता कदम-कदम पर बैठे हैं। पाप करने से पत्नी रोकती है, माता-पिता समझाते हैं, पुत्र-पुत्रियो का राग आड़े आता है, पडौसियो की लाज-शरम पाप न करने की परोक्ष प्रेरणा देती रहती है। काया से यदि कोई पाप करता है तो सरकार दण्ड देती है, वाणी से कोई पाप करता है तो समाज उसका बहिष्कार कर देती है, मन पर भी धर्म का अंकुश लग ही जाता है। क्या इतना सब कम पड़ रहा है पाप न करने की प्रेरणा देने के लिये, जो मुझे भी तुम यही उपदेश करने का आग्रह कर रहे हो और वह भी वीतरागी तत्त्वचर्चा के स्थान पर ?

थोड़ा आत्म निरीक्षण करो; कहीं ऐसा तो नहीं है कि वीतराग चर्चा को बन्द कराने के लिये ही तुम्हारे अन्दर बैठा मोह राजा तुम्हें यह कहने के लिए प्रेरित कर रहा हो; क्योंकि मिथ्यात्व महाराज को वीतराग चर्चा से चिढ़ है। अतः जब भी जहाँ-कहीं वीतराग चर्चा की योजना बनाई जाती है तो इस मिथ्यात्व के द्वारा इसी तरह विद्रोह का वातावरण बनाया जाता है। अतः अपने अन्दर बैठे मोह (मिथ्यात्व) रूप शत्रु को पहचानो और वीतराग धर्म की चर्चा से इन्कार मत करो।

अरे भाई ! शुभ परिणति अपने आप मे अच्छी है, तभी तो उसका नाम शुभ है, परतु अशुभ परिणति की तरह वह शुभ परिणति भी भव समुद्र को तारने के लिए 'तरणी' नही बन सकती, क्योकि दोनो एक राग की ही धातु से निर्मित होतीं हैं। राग परिणति ही पुण्य-पाप रूप है, जिसका फल ससार है और वीतराग परिणति धर्मरूप है, जिसका फल मोक्ष है। अतः वीतराग परिणति को ही भवसमुद्र तरणी कहा है।

जिस तरह लौकिक नदी-समुद्र पार करने के लिए नौका काष्ठ की ही बनती है, लोह आदि धातुओ की नही। उसी तरह भवसागर पार करना हो तो वीतराग परिणति रूप काष्ठ से ही तरणी बनेगी, राग रूपी धातु से नही।

हाँ, जितना योगदान लकड़ी की नौका बनाने मे लोहे के कील-पुरजो का होता है, उतना योगदान वीतराग परिणति के साथ शुभराग का हो सकता है; पर नौका लकड़ी या काष्ठ की ही कहलाती है, लोहे की नही।''

धर्मेश के द्वारा आगम, युक्तियो और उदाहरणो से समझाये जाने पर भी तत्त्वज्ञान से अनजान मनमोहन अधिक तो कुछ नही समझा, पर इतना अवश्य समझ गया कि धर्मेश सचमुच धर्मात्मा है, बहुत बडा ज्ञानी पुरुष है और वह भी पाप को सर्वथा बुरा मानता है तथा पुण्य कार्यों की भी यथायोग्य प्रेरणा देता है। शुभकार्य भी करता है, पर शुभ मे अटकता नही है। जो भी धर्मेश के विरुद्ध प्रचार है, वह सब मोह की ही महिमा है, अज्ञान की ही बलिहारी है। सचमुच धर्मेश तो देवता है देवता। जैसा नाम है वैसा ही उसका काम है।

इस तरह मनमोहन धर्मेश की चर्चा से पूरी तरह संतुष्ट था। उसे ऐसा लगा - सचमुच बाते तो ये ही सुनने जैसीं हैं। यह सोचते-विचारते वह अपने अतीत में खो गया, अब तक की हुई अपनी परिणति का आत्म निरीक्षण करने लगा।

धर्मेश ने मनमोहन को संबोधते हुए पुनः कहा - "अरे मनमोहन ! कहाँ खो गये ? क्या सोच रहे हो ? किसका ध्यान करने लगे हो ? अरे ! आत्मध्यान

के सिवाय मिथ्यात्व की भूमिका मे जो भी सोचा-विचारी करोगे या अब तक करते रहे हो, वह सब आर्त-रौद्र ध्यान ही है। सोचा कभी? क्या फल होगा इन आर्त-रौद्र भावो का ? कभी धर्मध्यान भी किया या नही ?

सभलकर बैठते हुए मनमोहन ने कहा - "हमारा काहे का ध्यान ? हम क्या जाने ध्यान करना ? सचमुच हम तो पापी हैं, दिन-रात पाप का ही चिन्तन चलता है, पाप की धुन मे ही मग्न रहते हैं। ध्यान करना तो बहुत बड़ी बात है, हम तो ध्यान की परिभाषा भी नही जानते। यही कारण है कि कर की मालाये फेरते-फेरते युग बीत गया, पर मन का फेर नहीं गया।

कबीर ने ठीक ही कहा है -

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।
कर का मनका डार दे मन का मनका फेर ॥

गुरुजी ! मैं आपसे क्या छिपाऊँ ? आप तो मेरे ज्ञान गुरु हैं, सन्मार्ग दर्शक है, मैंने अपने जीवन मे बहुत पाप किये हैं। आपको ज्ञात हो या न हो, पर सच यह है कि मेरे दुर्व्यसनो के कारण मेरी पत्नी मोहनी तो जीवन भर परेशान रही ही, मेरी दोनो पुत्रियाँ सुनन्दा एव सुनयना भी सुखी नहीं रहीं। उनका भी सारा जीवन दुःखमय हो गया, बर्बाद हो गया।

उन्हें देख-देख मेरा मन आत्मग्लानि से इतना भर रहा है कि अब और कुछ करना-धरना सूझता ही नही है। धर्म-कर्म मे भी मन बिल्कुल लगता ही नहीं है। उनके दु:ख की कल्पना मात्र से मेरा रोम-रोम रोमाचित हो जाता, कलेजा काँप जाता है। अग-अग सिहर उठता है। आँखों से गगा-जमुनी धाराये फूट पड़ती हैं। कुछ समझ में नहीं आता, अब मैं क्या करूँ ?

ऐसी स्थिति में ध्यान करना तो बहुत दूर, ध्यान के बारे में कुछ सोचना समझना भी सभव नहीं है। मैंने तो आज तक ध्यान वगैरह कुछ किया ही नहीं है। ध्यान के नाम पर कभी मिनट दो मिनट भी तो नहीं बैठा। क्या विचार करूँ उसके फल पर ? क्या आशा करूँ उसके फल की ? जब ध्यान का बीज ही नहीं बोया तो फल कहाँ से, कैसे प्राप्त होंगे? "

कहते-कहते मनमोहन का गला भर आया। वह आगे कुछ न बोल सका।

धर्मेश को मनमोहन से इसी प्रकार के उत्तर की उम्मीद थी; क्योंकि वह यह तो जानता ही था कि जो व्यक्ति प्रतिदिन देवदर्शन तक नहीं करता, वह क्या जाने ससारवर्द्धक आर्त-रौद्र ध्यान को एवं धर्मध्यान के स्वरूप को? वह तो अरहत सिद्ध के नाम की माला फेरने को ही ध्यान समझता है।

धर्मेश का प्रश्न मात्र 'धर्मध्यान' के विषय मे था, ध्यान के विषय मे नही, पर मनमोहन को अभी ऐसी सूक्ष्म पकड कहाँ ? मनमोहन ही क्या और भी अनेक व्यक्ति ऐसे होगे, जिन्हे धर्मध्यान व आर्त-रौद्रध्यान की पहचान नही है।

वैसे देखा जाय तो मनमोहन ही क्या कोई भी सज्ञी पचेन्द्रिय ध्यान के बिना तो कभी रहता ही नहीं है, यह दूसरी बात है कि **जहाँ ध्यान नहीं होता, वहाँ उसी ध्यान की भावना होती है।** पर वह भी एक तरह से ध्यान ही है, क्योकि कर्मबन्ध की अपेक्षा ध्यान व भावना में कोई खास फर्क नही पडता।

न सही धर्मध्यान, पर आर्त-रौद्र ध्यान तो मनमोहन के सदैव होते ही है। पर उसे यह पता ही नही है कि वह आर्त-रौद्र ध्यान के रूप मे कितना बड़ा पाप कर रहा है ? सचमुच इन आर्त-रौद्र ध्यानो को तो कोई पाप ही नहीं गिनता।

मनमोहन ने स्वय को सभाल कर अपनी बात को जारी रखते हुए कहा - ''धर्मेश जी। मेरी कहानी बडी विचित्र है। आप तो मात्र इतना ही जानते हो कि - मैं आपके बालसखा अमित का स्वसुर हूँ। सभवतः इससे आगे आपको मेरे बारे मे कुछ भी पता नही है। कभी समय मिलने पर मैं आपको अपनी कथा-व्यथा कहकर अपने मन का बोझ कम करना चाहता हूँ। मैं अभी उस दुर्भाग्यपूर्ण कथा को कहकर आपका एवं इन जिज्ञासु जीवो का कीमती समय बर्बाद नही करना चाहता, पर करूँ क्या ? कहे बिना रहा भी तो नहीं जाता। यदि आपकी आज्ञा हो तो ''

धर्मेश ने सोचा - इसके मन का बोझ कम करने के लिए इसके मन में उमड़-घुमड़ रहे मानसिक दुःख के बादलों को बरसने का समय तो देना ही होगा, अन्यथा अपनी चर्चा/वार्ता सब इसके माथे के ऊपर से ही निकल जावेगी, माथे में घुसेगी ही नहीं। भावनाओं का विरेचन तो होना ही चाहिए।

संभव है इसकी व्यथा-कथा हम सबके लिए भी प्रथमानुयोग की भाँति प्रेरणादायक और शिक्षाप्रद सिद्ध हो जावे। इसके ऊपर जो बीत रही है, वह भी तो पुण्य-पाप का ही खेल है ?

यह सब सोचकर धर्मेश ने मुस्कराते हुए कहा - "कहो ! कहो !! अवश्य कहो ! हम सब शान्ति से सुनेंगे। यह समय भी समस्याओं के समाधान करने का ही है। फिर और कौनसा समय मिलने वाला है ? यदि तुम्हें सबके सामने कहने मे संकोच न हो तो अवश्य कहो।"

मनमोहन ने मन ही मन सोचा - सबके सामने कहने मे सकोच कैसा? जब जगत के सामने पापाचरण करने मे संकोच नहीं किया, तो गुरुतुल्य धर्मेशजी और साधर्मी जनो के सामने कहने मे अब काहे का संकोच ? मैं सबके समक्ष कह कर ही अपने पापो का प्रायश्चित्त करूँगा।

ऐसा निश्चय करके वह बोला - "धर्मेशजी ! जवानी के जोश मे व्यक्ति होश खो बैठता है। ऊपर से यदि आर्थिक अनुकूलता मिल जाए तब तो फिर कहना ही क्या है ?

मेरे पिताजी बहुत बड़े व्यापारी तो थे ही, जमीन-जायदाद भी उनके पास बहुत थी। खेती से, साहूकारी से और व्यापार से अनाप-सनाप आमदनी थी उन्हे। उनकी देख-रेख में सब काम मुनीम-गुमाश्ते और नौकर-चाकर ही करते थे। पिताजी का पुण्यप्रताप ऐसा था कि उनके प्रभाव से बड़े-बड़े बुद्धिमान और बलवान व्यक्ति उनकी सेवा में सदैव तैयार रहते और उनके इशारों पर दौड़-दौड़ कर काम करते। आज्ञा उल्लंघन करने की तो किसी की हिम्मत ही नहीं थी।

सामाजिक कामो में तो वे सिरमौर थे ही, राजनीति मे भी थोड़ा बहुत दखल रखते थे। इन सब कारणो से मेरा बचपन तो एक राजकुमार की तरह ठाठ-बाट से बीता ही, युवा होने पर भी मैंने कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं की। मतलबी मित्रो के चक्कर मे आ जाने से मदिरापान जैसे दुर्व्यसनो मे फस गया। बस, फिर क्या था? दिन-रात अपने दोस्तो के साथ राग-रंग और मौजमस्ती मे समय बीतने लगा। बस, ऐसे मे ही मेरा विवाह हो गया।

दुर्भाग्य से कुछ समय बाद ही पिताजी परलोक सिधार गये। पिता की मृत्यु से माँ अर्द्ध विक्षिप्त सी हो गई। मेरी विषयासक्त प्रवृत्ति एव लापरवाही का लाभ उठाकर धीरे-धीरे जमीन जोतनेवाले किसानो ने ही हडप ली, साहूकारी मुनीम-गुमाश्तो ने अपने-अपने हस्तगत कर ली। उचित देखभाल के अभाव मे व्यापार उद्योग ठप्प हो गया। लेन-देन के चक्कर मे धोखाधड़ी के झूठे आरोपो मे मुझे दो वर्ष की जेल हो गई। पापोदय के एक ही झकोरे मे सब कुछ मिट्टी मे मिल गया। पत्नी व पुत्र-पुत्रियों सहित सब अनाथ हो गये। उनकी जो दुर्दशा हुई उसकी कल्पना मात्र से रोंगटे खडे हो जाते है।''

अपनी करतूतो की कथा कहते-कहते मनमोहन का गला भर आया। आगे वह कुछ न कह पाया।

धर्मेश ने आश्वस्त करते हुए कहा - ''भाई ! दु:खी मत होओ। इससे भी पापबध होता है। यह सब तो अपने पुण्य-पाप के उदय का खेल है। ये पुण्य-पाप क्या-क्या गुल खिलाते है, इन्हे भी मात्र ज्ञान का ज्ञेय बनाकर छोड दो, इससे प्रभावित मत होओ।''

एक श्रोता ने खडे होकर विनम्र भाव से कहा - ''भाई ! आपके जीवन की इस घटना ने तो मानो पुराण पुरुष राजा सत्यन्धर के इतिहास को ही दुहरा दिया है। अपनी रानी विजया के मोह मे मूर्छित हुए राजा सत्यन्धर के चारित्र पर टिप्पणी करते हुए पुराणकार ने ठीक ही लिखा है -

विषयासक्त चित्ताना गुण को वा न नश्यति ।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्य न सत्यवाक् ॥

विषयो मे आसक्त चित्तवालो के ऐसे कौनसे गुण हैं, जो नष्ट नही हो जाते? उनके जीवन मे न विद्वत्ता रहती है, न मनुष्यता रहती है, न बड़प्पन रहता है और न सत्यवचन ही रहते है।''

मनमोहन ने महसूस किया, स्वीकार भी किया कि - "हाँ, भाई। आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। जब एक-एक विषय में आसक्त प्राणी अपने प्राण गवा देते हैं, तो पाँचों इन्द्रियो के विषयों में आसक्त प्राणियो का क्या कहना ? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं आपके सामने हूँ। अत: अपना कल्याण चाहने वालो को सदैव इन इन्द्रियो के विषयों से दूर ही रहना चाहिए।"

आज गोष्ठी का समय मनमोहन की बातचीत मे ही पूरा हो गया; पर अधिकाश लोगो ने यह महसूस किया कि यह भी बहुत बड़ा काम हो गया। इस बात से मनमोहन के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो आया ही, इसके प्रभाव मे रहने वाले और भी अनेकलोग लाभान्वित होंगे।

समवेत स्वर मे सभी ने स्वीकार किया कि वार्ता बहुत अच्छी व सभी को लाभप्रद रही। ध्यान की चर्चा भी आज नहीं तो कल-कभी न कभी तो होगी ही, इस आशा से गोष्ठी विसर्जित हो गई। सब अपने-अपने आवास की ओर चल दिये। •

२२

चाँदनी रात थी, सुहावना मौसम था, रात के आठ बज रहे थे। ज्ञान-गोष्ठी पन्द्रह मिनट पहले ही समाप्त हुई थी। प्रतिदिन की भाँति सभी लोग गोष्ठी मे चर्चित विषय पर परस्पर ऊहापोह करते अपने-अपने निवास की ओर जा रहे थे। परतु चर्चा रोचक थी, अत: अधिकाश श्रोता चौराहे के पास पडी बेचो पर बैठकर चर्चा करने लगे।

एक ने कहा - "भाई ! मनमोहन ने तो आज कमाल ही कर दिया।"

दूसरा बोला - "हाँ भाई ! उसकी हिम्मत की तो दाद देनी ही पडेगी, पर यह सब जो भी हुआ, वह हुआ तो गुरुदेव की कृपा से ही, अन्यथा उसकी क्या मजाल, जो गुरुजी के सामने ऐसा खुलकर बोल सके।"

आज की ज्ञानगोष्ठी मे धर्मेश और मनमोहन के मध्य हुई लम्बी चर्चा की थोडी-बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी अनेक नये श्रोताओ के मन-मस्तिष्क पर हुई थी, पर अनुराग के मन मे बहुत तीखी प्रतिक्रिया हुई। उससे चुप नहीं रहा गया। उसने अपने अग्रज विराग से हल्का-सा व्यग करते हुए कहा -

"देखा भाईसाहब ! यह राग कितना घुसपैठिया होता है, कितना पक्षपाती होता है, इसकी भी कल्पना की कभी आपने ?

देखो न ! इस राग ने आपके धर्मेश गुरुजी जैसो को भी नहीं छोड़ा, अन्यथा वे मनमोहन को आगे क्यों बुलाते ?"

कहने की टोन बदलते हुए अनुराग ने आगे कहा - "वैसे देखा जाये तो आपके गुरुजी को क्या लेना-देना था उस मनमोहन से ? जो उसे विशेष रूप से आगे बुलाया और इतना अधिक मुँह लगाया; पर वह अमित का ससुर जो है। और अमित तो गुरुजी का बचपन का साथी है ही। बस, इसीकारण उसे

मौका मिल गया। अन्यथा आपके गुरुजी तो वही हैं, जो अच्छों-अच्छों को घास नहीं डालते। यही तो है राग की करामात! कैसे-कैसे कहाँ-कहाँ घुसपैठ करता है यह राग?"

विराग ने व्यंग का जबाव व्यग मे देते हुए कहा - "भला! गुरुजी किसी को घास क्यो डालेगे? अच्छे-अच्छे लोग कोई जानवर थोड़े ही हैं, जिन्हे घास डाला जाय। वे आवश्यकता के अनुसार सबको अपनी बात कहने का मौका भी देते ही हैं और सबका यथायोग्य आदर-सम्मान भी करते हैं, प्रोत्साहन भी देते हैं। वैसे भी उन्हे साधर्मियो के प्रति अनन्य प्रेम है, पर वे बिना प्रयोजन के वाद-विवाद एवं तर्क-वितर्कों मे नही उलझते। हर किसी को मुँह भी नहीं लगाते। इसीकारण यदि कोई टीका-टिप्पणी करता है तो भले करे, इससे वे प्रभावित नही होते। उनके माथे मे सल तक नहीं पड़ते।"

अनुराग बोला - "यही तो मैं भी कहता हूँ कि ऐसे लोगो को मौका ही क्यो दिया जाय? लोगो का क्या? उन्हें तो मौका मिलना चाहिए, फिर तो गूंगों की भी जबान खुल जाती है। गुरुजी ने मनमोहन को आगे क्या बुला लिया, फिर तो मानो उसे अभयदान मिल गया। देखो न! जो व्यक्ति गुरुजी के सामने एक वाक्य भी ढग से नहीं बोल पाता था। बोलने मे जवान लडखड़ाती थी, हाथ-पाँव काँपते थे, उस पट्ठे ने गुरुजी से थोड़ा-सा प्रोत्साहन पाकर मौका मिलते ही बोलना प्रारम्भ किया तो फिर गुरुजी को 'ध्यान' पर बोलने का मौका ही नहीं दिया। पूरा पौन घण्टा खुद ही बोलता रहा। गुरुजी को भी लक्ष्य भ्रष्ट कर दिया।

गुरुजी ने 'ध्यान' के विषय मे ही कितना बढिया प्रश्न पूछा था उससे। जिसका उसे मात्र हाँ या ना मे उत्तर देना था। पर भला आदमी लग गया अपनी व्यथा-कथा कहने। उसकी वह व्यथा-कथा कहने-सुनने में वह 'ध्यान' का इतना अच्छा विषय सब गुड़-गोबर हो गया।"

विराग बोला - "यह सच है कि ध्यान जैसा उपयोगी व अछूता विषय चर्चित होने से रह गया। यह भी सच है कि किसी भी लौकिकजनों से राग करना अच्छा नहीं है। यह भी सच है कि लोग तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही इतनी दूर-दूर से दौड़-दौड़ कर और उद्योग-धंधों को छोड़-छोड़कर

आये हैं, अतः समय का पूरा-पूरा सदुपयोग तो होना चाहिए। परंतु यह भी परम सत्य है कि समय के सदुपयोग की चिता आप से भी अधिक स्वय गुरुजी को भी रहती है, तभी तो वे ऐसे शिविरादि अवसरो पर १०५ डिग्री बुखार मे भी प्रवचन करते हैं, डॉक्टरो के मना करने पर भी नही मानते।

अभी तुम्हे गुरुजी के अन्तरग की पूरी पहचान नही है, नये-नये जो हो। क्या तुम्हारी व्यग की भाषा हम नही समझते ? तुमने राग को भला-बुरा बताकर गुरुजी पर ही परोक्ष रूप मे आरोप लगाया है, परतु तुम स्वय सोचो। अभी गुरुजी पूर्ण वीतरागी तो हो नही गये। अरे! अभी तो वे बेचारे मुनि की भूमिका मे भी नही हैं। हम-तुम जैसे ही सामान्य श्रावक है।

अरे भाई! मुनिराज की भूमिका मे भी जब शास्त्र लिखने, पढने-पढाने का एवं प्रवचनादि शुभकार्य करने का प्रशस्त राग आता है तो गुरुजी तो गृहस्थ हैं। यदि परोपकार की भावना से मनमोहन की भावनाओ को सुनकर उसके मनोविकारो का विरेचन करने का भाव उन्हे आ गया तो इसमे गलत क्या हो गया ?

मनमोहन ने भी विद्यागुरु के समक्ष अपने दोष प्रगट करके मानो एक तरह से प्रतिक्रमण ही तो किया है, प्रायश्चित्त ही तो किया है। क्या उसका यह कार्य हमे-तुम्हे भी अनुकरणीय नही है ? क्या उसके इस कार्य से हमे कुछ भी शिक्षा या प्रेरणा नही मिलती ?

जरा शान्ति से विचार करो - गुरुजी की भूमिका मे ऐसा राग या विकल्प आना उचित है या अनुचित ?

अरे भाई! मनमोहन के विचारो का विरेचन भी तो करना ही था। अन्यथा उसे तत्त्वचर्चा का कुछ भी लाभ नही होता, क्योंकि वह तो उन्ही विचारो मे डूबा रहता, उसी उधेड-बुन मे अटका रहता।

यही सब सोच-विचारकर गुरुजी ने ऐसा किया होगा। उसे इतना मौका जो दिया, वह निश्चित ही पूर्वापर खूब सोच-विचारकर ही दिया होगा।

भाई ! पूर्वापर बिना सोचे-विचारे छोटी-मोटी बातों से गुरुओं के प्रति श्रद्धा खण्डित नहीं होने देना चाहिए। ऐसा होने से उनके द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिल पाता। यह तो तुम जानते ही हो कि बिना प्रयोजन तो गुरुजी अच्छो-अच्छो को मुँह नहीं लगाते। अभी तुम्हे गुरुजी की विलक्षण बुद्धि और तात्कालिक निर्णय लेने की अद्भुत क्षमता व प्रतिभा का पता नही है। वे जहाँ दीन-दुखियो के प्रति द्राक्षा के समान कोमल हैं, वहीं अपने सिद्धान्तो के प्रति नारियल से कठोर भी हैं।

जैसी करुणा उन्होने की, वैसी करुणा गृहस्थो को ही क्या मुनिराजों तक को भी आती है। तभी तो शास्त्र लिखे जाते हैं। यद्यपि करुणा राग है और राग आग है, ऐसा धर्मात्मा जानते हैं, पर भूमिकानुसार ऐसी करुणा भी आये बिना नही रहती और आनी भी चाहिए।

गुरुजी ने उस पर थोडी-सी कृपा कर दी तो तुम्हारे पेट मे इतना दर्द क्यो हो गया ? जो तुमने गुरुजी पर ही छींटाकसी कर डाली।

देखो ! प्रत्येक बोल को विवेक की तराजू पर तौल-तौल कर ही बोलना चाहिए। और सुनो ! गुरुजी अकेले मेरे ही गुरुजी नहीं है, मेरे गुरुजी होने से तेरे तो वे गुरु के गुरु हो गये, क्योकि मैं तेरा बडा भाई तो हूँ ही, गुरु भी तो हूँ। जिन-जिन को उनसे तत्त्वज्ञान सीखने को मिला, वे उन सबके गुरुजी हैं। अरे ! स्कूल में लौकिक शिक्षा देने वाले भी जब हमारे गुरु हैं तो धर्मेश ने तो हमे तत्त्वज्ञान सिखाया है। अत: उन्हे भी विद्यागुरु का दर्जा देना तो हमारा नैतिक दायित्व है। अरे ! लौकिक विद्या पढाने वाले गुरु तो गली-गली मे मिल जायेगे, पर अध्यात्म विद्या का ज्ञान देने वाले तो इस युग में अत्यन्त दुर्लभ हैं बड़े भाग्य से ही मिलते हैं।''

विराग व अनुराग दोनों सहोदर हैं, विराग अनुराग से दस वर्ष बड़ा है। विराग तो अनेक वर्षो से धर्मेश के सम्पर्क में है, अत: उनकी उदारता एव धर्मानुराग आदि गुणों से भली-भाँति परिचित हो चुका है; पर अनुराग अपने बड़े भाई की प्रेरणा से प्रथम बार ही धर्मेश के आश्रम में आया है। अत: वह वहाँ की प्रत्येक गतिविधि को समीक्षात्मक दृष्टि से देखता-परखता है और

अपने अग्रज से एकान्त में वहाँ के गुण-दोषो की चर्चा किये बिना उससे रहा नहीं जाता। विराग भी उसकी भावनाओं को दबाने के बजाय उन्हें शान्ति से सुनकर उनका सही समाधान करना ही श्रेष्ठ समझता है। यद्यपि उसे अनुराग द्वारा की गई गुरुजी की टीका-टिप्पणी अच्छी नहीं लगी, फिर भी वह उस पर झुंझलाया नहीं, नाराज भी नही हुआ।

विराग बुद्धिमान व दूरदर्शी तो है ही, बड़े भाई का बडप्पन भी उसमे है। उसने अनुराग को आँखे दिखाकर आतकित नही किया, धमकाकर चुप नही किया; वह मानवीय मनोविज्ञान से सुपरिचित है। वह जानता है कि - जिस तरह गेद को आवश्यकता से अधिक दबाया जाये तो वह या तो टूट-फूट जाती है या उचट जाती है, ठीक इसीप्रकार यदि नये आगतुको को जरूरत से ज्यादा दबा दिया जाये, तो वे भी टूट सकते है, फूट सकते हैं, उचटकर अन्यत्र जा सकते हैं। और जब अपने पास सही तत्त्व है, सही तथ्य है, प्रबल युक्तियाँ और आगम का सम्बल है, तो आतकित करने की जरूरत ही कहाँ है ? धीरे-धीरे सब अपने आप समझ जायेगे। थोडे दिन सुनने तो दे शान्ति से उसे। ऐसी जल्दी भी क्या है ?

अनुराग धर्मेश के प्रवचनो मे जब भी कोई नयी बात सुनता तो वह उसके मन को सहजता से स्वीकृत नही होती, मन मे प्रतिक्रिया भी होती, पर उसने विराग के कहने पर यह भी निश्चय कर लिया था कि पहले वह पूरी बाते सुनेगा, उन पर विचार करेगा, फिर समझ मे नहीं आयेगा तो बाद में विनय पूर्वक अपनी मर्यादा मे रहकर एक-एक बात पूछेगा और अपना सब तरह से समाधान पाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगा, तब कहीं कोई निर्णय लेगा।

'ध्यान' पर तो प्रवचन चल ही रहे थे, प्रसगानुसार बीच-बीच मे सम्यग्दर्शन के हेतुभूत भेदज्ञान, दृष्टि का विषय शुद्धात्मा तथा दर्शन-पूजनादि की उपयोगिता पर भी प्रवचन हुये, जिनका अनुराग को कुछ भी ज्ञान नहीं था। उसने अब तक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ये विषय भी सुने ही नही थे। इसकारण वह धर्मेश के व्यक्तित्व व विचारों से दिन-प्रतिदिन प्रभावित होता चला गया और उसने यथा सभव अधिकतम समय तक रुककर पूरा-पूरा लाभ लेने का मन बना लिया। •

२३

धर्मेश स्वय तो प्रतिदिन प्रातः पाँच बजे अपने आश्रमवासी साथियों और शिष्यों के साथ घूमने-फिरने जाया ही करता। समय-समय पर बाहर से आए साधर्मीजन भी उसके सान्निध्य का लाभ लेने उसके साथ हो लेते।

धर्मेश घूमते समय अधिकाश चुप ही रहता। यदि कुछ कहने का भाव आता भी तो उस समय उसके मन मे जो तात्त्विक चिन्तन चल रहा होता, उसी की चर्चा करता। राग-द्वेष वर्द्धक राजनैतिक व सामाजिक विकथा वह कभी नहीं करता।

शिक्षणशिविर के समय उसके साथ घूमने-फिरने वालों की सख्या बहुत अधिक हो जाती। भले ही भीड-भाड के कारण उन्हे धर्मेश से बात कहने-सुनने का अवसर न मिले, पर स्नेहवश उसके साथ घूमने जाते जरूर।

इन घूमने वालो मे कुछ चतुर-चालाक ऐसे भी होते, जिन्हें सचमुच न तो घूमने-फिरने मे ही खास रुचि होती और न तत्त्वचर्चा में भी कोई दिलचस्पी, फिर भी उनके साथ हो लेते।

ऐसे लोग धर्मेश से सीधा संपर्क बढ़ाकर मात्र उसकी निगाह में चढ़ने के प्रयोजन से ही पर्यटन मे उसका साथ देते; क्योंकि उन्हे धर्मेश की और उनके अनुयायियों की एक खास कमजोरी मालूम हो गई थी, जिसका वे अपनी स्वार्थसिद्धि में उपयोग कर लेना चाहते थे।

धर्मेश की कमजोरी यह थी कि जो उसके घनिष्ठ परिचय में आ जाता, उसके मुँह लग जाता; उसके नाम का उल्लेख सहज ही धर्मेश के प्रवचनों में होने लगता था, जो परिचय में आने वाले के लिए वरदान बन जाता , उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा देता। तथा उनके अनुयायी शिष्यों की कमजोरी यह

थी कि धर्मेश के मुँह से जिसका भी नाम निकला, उसकी ओर उसी समय सब शिष्यो की, श्रोताओ की निगाहे मुड जातीं। न केवल निगाहे मुडतीं, वे सब बिना आगा-पीछा सोचे आँख मींचकर उस पर समर्पित होने लगते। इस कमजोरी का अनेक लोगो ने समय-समय पर नाजायज लाभ भी खूब उठाया।

एक दिन तत्त्वचर्चा के समय ही धर्मेश के मुँह बोले शिष्य ने 'ध्यान' का विषय छेडते हुए कहा -

"गुरुजी ! आप तत्त्वज्ञान के शिविर तो लगाते ही है, यदि आप ध्यान के शिविर भी लगाये तो और भी लाखो लोग जुड सकते है अपने मिशन से। ज्ञान के साथ 'ध्यान शिविर' जुड जाने से मिशन की प्रतिष्ठा भी बढ़ सकती है।

आपको यह तो पता होगा ही कि आजकल ध्यान के शिविर भी खूब लोकप्रिय हो रहे हैं। उनकी लोकप्रियता को देखकर कुछ मुमुक्षु भाई भी उनकी ओर आकर्षित हो रहे है। क्यो न अपन भी ध्यान के शिविर लगाये ?"

धर्मेश ने कहा - "हाँ ! हाँ ! पता है, सब पता है, परतु भाई ! शिविर ज्ञान के ही लगते हैं, ध्यान के नही। ज्ञानार्जन के लिए गुरु चाहिए, शिष्य चाहिए और ज्ञान के साधन चाहिए। इसके विपरीत ध्यान के लिए चाहिए बिल्कुल एकान्त।

शिक्षणशिविर ज्ञान का शिक्षण-प्रशिक्षण देने के लिए लगाये जाते हैं और **ध्यान ज्ञानी जीवो के अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया है, जो कि एकान्त में स्वभाव सन्मुखता के पुरुषार्थ से ही सभव है। ज्ञान व ध्यान में यही तो मौलिक अतर है।**

स्वाध्याय व ज्ञानार्जन करने का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि इसमें एक से दो भले होते हैं, अनेक हो तो कहना ही क्या है ? परस्पर चर्चा-वार्ता में ज्ञान परिमार्जित होता है। दूसरों के ज्ञान का लाभ सहज ही मिल जाता है। परन्तु ध्यान मे ऐसा कुछ नहीं होता। ध्यान की साधना ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। ध्यान मे दूसरो का क्या काम ? भीड़ मे तो अच्छे-अच्छे साधकों की चित्तवृत्ति चंचल व अस्थिर हो जाती है, हम-तुम तो चीज ही क्या हैं ?

जिन ध्यान शिविरों की लोकप्रियता की तुम बात कर रहे हो, वे तो लोकप्रिय होने ही चाहिए; क्योंकि उनमें लोकरुचि के अनुकूल शारीरिक स्वास्थ का बहुत अच्छे ढंग से प्रशिक्षण दिया जाता है। प्राकृतिक रूप से स्वस्थ रहने की कला बताई जाती है। बडी से बड़ी बीमारी से बचने के और निरोग रहने की विधियों में प्रशिक्षित किया जाता है।

पर, भाई ! अपना लक्ष्य जुदा है। उन्हे उनका काम करने दो, अपन अपना काम कर रहे हैं। अपने पास इतना समय व शक्ति कहाँ है जो यह भी कर ले और वह भी कर ले। फिर यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है, हमें उसमें उतनी रुचि ही नहीं है। हमारी रुचि तो विशुद्ध अध्यात्म में है।

सचमुच वे आत्मा के ध्यान अथवा धर्मध्यान के शिविर ही नहीं हैं। वे तो योग साधना केन्द्र हैं, शारीरिक स्वास्थ्य केन्द्र हैं। उनमे आसन, प्राणायाम और योगिक क्रियाओ द्वारा स्वास्थ्य लाभ की मुख्यता से ही अधिकांश कार्यक्रम होते हैं, श्वसन क्रियाओ पर ध्यान केन्द्रित करने को कहा जाता है। वह स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण व उपयोगी है, परन्तु उन शिविरों से अपना प्रयोजन पूरा नही होता।''

दूसरा शिष्य विनयपूर्वक बोला - ''गुरुजी ! आपका कहना सच है, पर वहाँ भी बहुत शान्ति का अनुभव होता है। मैंने स्वय उनके शिविर मे जाकर देखा है।''

धर्मेश ने स्पष्टीकरण करते हुये कहा - ''भाई तुम्हारा कहना बराबर है। दिन-रात विषय-कषाय की आग मे और धंधे-पानी की चिता की ज्वाला में जलने वाले तथा सामाजिक राजनैतिक भाग-दौड़ मे इधर-उधर भटकने वाले व्यक्ति यदि १०-१५ दिन को सपूर्ण निवृत्ति लेकर वहाँ जायेंगे और शान्ति से वहाँ अज्ञातवास में रहेगे तो ७५ प्रतिशत राहत, शांति व सुख का अनुभव तो बिना कुछ किये ही हो जाएगा। फिर वहाँ के नियमानुसार बाढंड्री के बाहर के सभी से संबंध विच्छेद कर दिए जाएंगे और जैसा वे करायेंगे, वैसा ही पूर्ण

अनुशासन के साथ करते रहेगे तो रिलेक्स तो होगा ही। पर वह रिलेक्स अर्थात् शारीरिक आराम व मानसिक शान्ति उतने ही दिन की है जब तक वहाँ रहेगे। वहाँ से निकलते ही फिर वही राग की आग, विषय-कषाय की ज्वाला और कर्तृत्व की चिंता की चिगारियाँ ? यह भी अनुभव किया या नहीं ?''

लाभानद ने सुखानद व रामानद की ओर देखते हुए परस्पर आँखो ही आँखो में धर्मेश के समाधान का समर्थन करते हुए कहा - ''हाँ, यह बात तो बराबर है, वहाँ से आने के बाद तो ।''

धर्मेश ने कहा - ''अरे भाई ! यह सब तो अनन्त बार कर-कर के छोडा है, पर इससे हुआ क्या ? जब शरीर ही नही रहेगा तो स्वास्थ्य कहाँ से रहेगा ? अत. अब मात्र शरीर के सभालने मे पूरी ताकत नही लगाई जा सकती।''

धर्मेश ने कुछ प्रेरणा देते हुए आगे कहा - ''**जब लौं न रोग जरा गहै, तब लौं झटति निज हित करो।** जब तक बुढापा रूपी रोग ने देह को नही जकडा, उसके पहले ही शीघ्र आत्मा का कल्याण कर लो।''

धर्मेश ने कहा - और भी सुनो ! कैसे-कैसे कवि हो गये जिन्होने हमारी आँखे खोलने का प्रयास किया है -

जौलों देह तेरी, काहू रोग सौ न घेरी, जौलों
जरा नाहि नेरी, जासो पराधीन परि है।
जौलो जमनामा वैरी, देय न दमामा, जौलों
मानै कान रामा, बुद्धि जाइ ना बिगारि है।
तौलौं मित्र मेरे, निज कारज सभाल ले रे ।
पौरुस थकेगे, फैर पीछे कहा करि है ?
अहो ! आग आये, जब झोपरी जलन लागै,
कुआ के खुदाये तब, कौन काज सरि है ?

भाई ! जब असाता का उदय आयेगा, तब ये आसन, प्राणायाम भी तेरे स्वास्थ्य को अनुकूल नहीं रख पायेगे। बुढापा और मरण स्वयं भी अपने आप में रोग ही तो हैं, जो अनिवार्य हैं। इन रोगो से आसन-प्राणायाम भी नहीं बचा पायेंगे।

दूसरी बात यह है कि - सभी प्रकार के शिविरो में शिक्षण-प्रशिक्षण ही प्रधान होता है और शिक्षण-प्रशिक्षण त्रिमुखी प्रक्रिया है, इसमें कम से कम तीन आयाम तो होते ही हैं। एक-शिक्षक, दूसरा -शिक्षार्थी एवं तीसरा शिक्षण-प्रशिक्षण के साधन। और ध्यान संयोगों पर से संपूर्णतया ज्ञानापयोग को हटाकर पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विकेन्द्रित ज्ञानोपयोग को आत्मा में केन्द्रित करने की, उपयोग को आत्मसम्मुख करने की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इसमें एक शुद्धात्मा के आलम्बन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। यहाँ तक कि मन-वचन-काय भी, जो कि आत्मा के एक क्षेत्रावगाही हैं, उन तीनों योगो से भी काम लेना बन्द करके जब आत्मा का ज्ञानोपयोग अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है, उसे अध्यात्म में आत्मध्यान या निश्चय धर्मध्यान संज्ञा प्राप्त है।

ध्यान रहे, सामान्य रूप से आर्त-रौद्र ध्यान भी ध्यान ही कहे जाते हैं, पर यहाँ उन आर्त-रौद्र ध्यानो की बात नहीं है। यह आत्मज्ञान का प्रकरण है, अतः यहाँ 'ध्यान' शब्द को धर्मध्यान के अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए।

मन किसी न किसी एक विषय मे अटका रहने के कारण व्यक्ति को हर समय कोई न कोई ध्यान तो होता ही है; परन्तु जो ध्यान राग-द्वेष मूलक होता है, वह सब अप्रशस्त आर्त एवं रौद्र ध्यान ही है।

लाभानन्द ने पूछा - "गुरुदेव। ये आर्त-रौद्र ध्यान क्या होते हैं?

इनके बारे मे यह तो बहुत सुना कि ये कुगति के कारण है, पर इनकी पहचान और इनसे बचने का उपाय क्या है ? यह बतायें तो बड़ी कृपा होगी।

धर्मेश ने कहा - "भाई । यह विषय ऐसा चलते-फिरते-घूमते समय नहीं समझाया जा सकता। इस पर तो शान्ति से बैठकर ही चर्चा हो सकती है। कल ज्ञानगोष्ठी मे प्रश्न रखना, वहाँ एक-एक ध्यान पर एक-एक दिन विस्तार से चर्चा करेंगे, तब कहीं खुलासा होगा।"

बातों ही बातों में कब घूमने का समय पूरा हो गया, पता ही नहीं चला। धर्मेश अपने विश्रामस्थल चले गये। अन्य लोग भी अपने-अपने घर चले गये।

•

२४

धर्मेश मे एक सुयोग्य सफल अध्यापक की तरह एक विशेषता यह थी कि वह जिस विषय पर प्रवचन करता, पहले उसका स्वय सर्वांगीण अध्ययन, मनन, चितन कर लिया करता। इतना ही नही, आवश्यक नोट्स भी बना लेता, जिससे प्रवचन के महत्त्वपूर्ण मुद्दो का विशेष स्पष्टीकरण किया जा सके। कभी विस्मृत होने पर स्वय भी पुन. अवलोकन कर सके।

इन दिनो सारे देश मे 'ध्यान' का विषय बहुचर्चित था, क्योकि जगह-जगह ध्यान के शिविर जो लग रहे थे। आश्रम मे भी कानाफूसी हुआ करती थी। लोग धर्मेश के मुख से इस बारे म सुनना-समझना चाहते थे। सभी श्रोताओ मे ध्यान का स्वरूप ओर उसकी यथार्थ प्रक्रिया विस्तार से जानने की जिज्ञासा जग गई थी। अत· सभी मे इस विषय को सुनने का उत्साह था।

धर्मेश के निकट सम्पर्क के कारण अमित और मनमोहन के जीवन मे जो आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ, उससे अमित की पत्नी सुनन्दा को पारिवारिक सुख-शान्ति तो मिली ही, उसका झुकाव भी धर्म की ओर हो गया था, तथा उसमे धर्म का मर्म जानने की जिज्ञासा भी जग चुकी थी।

सुनदा के साथ उसकी विधवा बहिन सुनयना को भी सन्मार्ग मिल गया। वह बेचारी पति के वियोग से पीडित थी। इस तरह यह पूरा परिवार धर्मेश के साथ बहुत ही निकट से जुड गया था। अब ये लोग तत्त्वज्ञान व धर्मध्यान का लाभ लेने के लिए सदैव लालायित रहने लगे थे। इनकी समझ में यह अच्छी तरह आ गया था कि सुख-शान्ति का एकमात्र यही उपाय है। अतः ये भी ध्यान पर होने वाले प्रवचनो की बड़ी ही उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे।

धर्मेश ने भी 'ध्यान' का विषय मुख्यतः इन्हीं के लक्ष्य से चुना था; क्योंकि वह इस पूरे परिवार को अधिकांश आर्त-रौद्र ध्यान में ही डूबा देखता था। अतः वह चाहता था कि यह पूरा परिवार इस विषय को ध्यान से आद्योपान्त सुने।

धर्मेश को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सभी समय पर आ गये हैं और उत्सुकता से प्रवचन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

घड़ी ने तीन घण्टे बजाये ही थे कि ॐकार ध्वनि के साथ धर्मेश का प्रवचन प्रारम्भ हुआ। धर्मेश ने कहा - "आज आर्तध्यान के विषय पर विचार करना है। आर्त्तध्यान क्या है ? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह क्यों होता है ? कितने प्रकार से होता है ? इसका क्या फल है ? इससे कैसे बचा जा सकता है ?

आर्तध्यान के सदर्भ मे ये ही प्रश्न विचारणीय हैं। वैसे तो हम इष्ट वियोग जनित दु'ख के रूप मे अनिष्ट सयोगो की चिन्ता के रूप में और रोग जनित वेदना के रूप मे रात-दिन आर्तध्यान ही करते रहते हैं, पर यह नहीं जानते कि यही वह आर्तध्यान है, जिसके फल में एक इन्द्रिय निगोद से लेकर पचेन्द्रिय पशु की पर्याये प्राप्त होतीं हैं।

धर्मेश ने आगम के आधार से आर्तध्यान के बाह्य लक्षणों की चर्चा करते हुए बताया - "परिग्रह मे अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, अधिक ब्याज से आजीविका करना, अत्यधिक लोभ करना, भयभीत रहना, उद्वेग करना, अतिशय शोक करना, पश्चात्ताप करना, आँसू बहाना आदि आर्तध्यान के बाह्य लक्षण हैं।"

आर्त्तध्यान के ये लक्षण सुनकर सभी श्रोता मन ही मन अपने परिणामो को परख रहे थे।

मनमोहन सोचता है - परिग्रह में अति आसक्तपना, कृपणता, अधिक ब्याज वसूलना, भय, उद्वेग, शोक, पश्चात्ताप ये तो मुझमें होते ही रहते हैं; पर धर्मेश गुरुजी ने मेरे मन की ये सब बातें जान कैसे लीं ? मैंने तो कभी किसी से कुछ कहा ही नहीं। अरे ! ये तो अन्तर्यामी से लगते हैं ?

सुनन्दा, सुनयना और अमित भी धर्मेश के प्रवचन को सुनकर अपने अन्तर मे झांकते हैं, तो वे भी स्वय को किसी न किसी रूप मे इन्हीं सब भावो से भरा पाते हैं और मन ही मन सोचते हैं - ये बाते तो एकदम सही हैं। इस तरह अमित और उसका परिवार भी धर्मेश के प्रवचनो से प्रभावित होता है।

धर्मेश ने आगे कहा - "महापुराण मे भी इसकी चर्चा है। वहाँ कहा है कि ऋत् अर्थात् जिस भाव मे दु:ख उत्पन्न हो, पीडा उपजै सो आर्तध्यान है। यह आर्तध्यान मुख्यतया अप्रशस्त ही होता है, क्योकि यह ध्यान अविद्या से उत्पन्न होता है, मिथ्याज्ञान की वासना से उत्पन्न होता है।

पर के दोषो को ग्रहण करना, पर की लक्ष्मी को चाहना, पराई स्त्री को ताकना-घूरना तथा दूसरो की कलह को देखना भी आर्तध्यान ही है।

स्वय विषयो की प्रवृत्ति से रहित भी हो, परन्तु अन्य के देखे हुए, सुने हुए, कहे हुए, भोगे हुये विषयो की चर्चा को सुने, मन मे स्मरण कर उनमे रुचि ले तो उससे भी आर्त्तध्यान होता है।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका मे आर्तध्यान के जो वाह्य चिन्ह लिखे है। उनका सार यह है कि - जिसको द्वेषवश ऐसा खोटा चितवन होता है कि अमुक का पुत्र मर जाए, स्त्री घर छोड़कर भाग जाये, अमुक को जेल हो जाये, अमुक बर्वाद हो जाये, बुद्धि भ्रष्ट हो जाये, अमुक के हाथ, नाक, कान कट जाएँ, इन्द्रियाँ नष्ट हो जायें, लोक मे अपवाद हो जाये।

ऐसे विचारो द्वारा जो दूसरो का बुरा चाहा जाता है, कोसा जाता है, इससे उसका तो कुछ नही बिगडता, क्योकि उसका जीवन-मरण हानि-लाभ तो उसके पुण्य-पाप के आधीन होता है। हाँ, कोसने वाले का या बुरा चाहने वाले का यह भाव आर्त ध्यानरूप होने से उसको पापबन्ध अवश्य होता है, परन्तु अविवेकी मिथ्यादृष्टि के कुछ विवेक नहीं होता। यदि थोडा भी विवेक होता तो ऐसा क्यो करता ?"

धर्मेश ने अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा - "ऐसे जीव सदैव सदेह, शोक, भय, अवसाद से दु.खी तो रहते ही हैं, भ्रमितमन, उद्‌भ्रान्त, चचल, विषयोन्मुख, निद्रालु, कलहग्रस्त और खिन्न भी रहते हैं।

ऐसे लोग अनिष्ट संयोगज व इष्ट वियोगज एवं पीड़ा चिंतन में तथा इनकी संभावना मे आकुल/व्याकुल और आगामी सुख की आकांक्षा में सतत् चिंतित रहते हैं। इसप्रकार के आर्त्तध्यान में अत्यन्त संक्लेश परिणाम रहने से तीव्र पाप का बध होता है, जिसका फल नरक-निगोद है।"

जिन-जिन ने धर्मेश की ये बातें ध्यान से सुनीं, उन्होने अपने-अपने अन्तर मे झाँक कर देखा तो सभी ने यह महसूस किया कि सचमुच हम भी इस मानसिक रोग से ग्रसित हैं, पीडित हैं। यह उनकी कोरी भावुकता नहीं थी, बल्कि वस्तुत: थोड़े-बहुत रूप मे सभी इन प्रवृत्तियों से प्रभावित थे।

अमित ने भी धर्मेश के इस व्याख्यान को बहुत ध्यान से सुना, क्योंकि इस व्याख्यान मे जो भी चर्चा हुई, वह उसके ऊपर भी बीत रही थी। वह सुनन्दा और सुनयना के दु ख को तो प्रत्यक्ष देख ही रहा था, स्वयं भी कलह, शोक, अवसाद के घेरे से नहीं निकल पा रहा था। शारीरिक पीड़ा तो अपार थी ही।

अत उसने विनयपूर्वक धर्मेश से कहा - "भाई ! तुम मेरे मित्र भी हो और गुरु भी। मैं पढ़ा-लिखा अवश्य हूँ, पर सचमुच मेरी वह पढ़ाई तुम्हारे तत्त्वज्ञान के सामने बहुत बौनी है। तुम मुझे इस आर्त्तध्यान से बचने का उपाय बताओ। मै समझता था, पैसे से क्या नही हो सकता ? पर मैंने सब उपाय करके देख लिए। जब तक पाप का उदय है, तब तक कोई दवा काम नहीं करेगी। मैं पैसे खर्च कर सकता हूँ, पर पाप के उदय को नही टाल सकता। तथा बीमारी आदि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मेरे जो ये भाव हो रहे हैं, ये सब भाव आपके बताये अनुसार तो नि:सदेह आर्तध्यान ही हैं, जिनका फल महापाप रूप है। अत: आप इनसे बचने का उपाय अवश्य बताइये।"

धर्मेश ने कहा - "सुनो इसके लिए तुम्हें नियमित स्वाध्याय के द्वारा तत्त्वाभ्यास करना होगा। पुण्य-पाप के और धर्म के स्वरूप को समझना होगा। सात तत्त्व का स्वरूप एवं छह द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन को समझना होगा। ऐसा करने से तुम्हें आत्मा-परमात्मा का स्वरूप समझ में आ जायेगा और स्व-पर भेदविज्ञान होगा।

बस, भेदज्ञान होते ही इष्टानिष्ट की मिथ्या कल्पना का अभाव होगा, उससे मिथ्या श्रद्धा से होने वाले भय, अवसाद तो समाप्त होगें ही, धीरे-धीरे चारित्र मोहजनित रागद्वेष भी कम होंगे और यथार्थ धर्मध्यान होने लगेगा।"

धर्मेश के स्नेह और करुणा से ओत-प्रोत उपदेश को सुनकर अमित ने तो भारी राहत महसूस की ही, अन्य श्रोताओं को भी सुखद अनुभूति हुई।

अमित ने कहा - "भाई जी ! सुना है कि ये आर्त्त-रौद्र ध्यान तो बड़े-बड़े त्यागी व्रती और महाव्रती मुनिराजो तक के होते हैं, ऐसी स्थिति मे हम जैसे व्यक्ति इनसे कैसे बच सकते हैं ?"

धर्मेश ने कहा - "घबराओ नहीं, मित्र ! यद्यपि तुमने जो सुना है, वह भी ठीक ही सुना है। शास्त्रानुसार रौद्रध्यान पचम गुणस्थानवर्ती देश सयमियो के तथा आर्त्तध्यान मे निदान को छोडकर इष्टवियोग, अनिष्टसयोग और पीडा चिन्तन का अस्तित्व मुनिराजो की भूमिका मे भी पाया जाता है।

पर ध्यान रखो, इससे अपने को न घबडाने की ही जरूरत है और न शिथिल ही होना है, बल्कि सबको अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सावधानी वर्तनी है।

जितने और जैसे आर्त्त-रौद्रध्यान उनके होते है, वे उन्हे हानि नही पहुँचा पाते, क्योंकि उनके पास तत्त्वज्ञान का बल है और सम्यक्चरित्र का सबल है।

जैसे हम-तुम प्रभावित हो जाते है, वैसे वे प्रभावित नहीं होते। सचमुच व्रती-महाव्रतियो के आर्त्त-रौद्र सपेरो के सापो के समान है, जो विषदत विहीन केवल कहने के साँप है, उन्हे देखकर हमे अपने मे होने वाले कषाय से कलुषित आर्त्त-रौद्र के खतरनाक विषधरो से नहीं खेलना चाहिए, उन्हें मनोरजन का साधन नही समझना चाहिए।

ये खोटे ध्यान हमारे पास रहेगे तो फिर भी। उन्हे रहने से तो हम नही रोक पायेगे, पर हम भी तत्त्वज्ञान के महामत्र से उन्हे विषदत विहीन बना सकते हैं। अप्रशस्त से प्रशस्त मे पलट सकते है, धर्मध्यान के रूप मे भी बदल सकते हैं। जिनवाणी का स्वाध्याय एव देव-गुरु-धर्म की शरण ही एकमात्र उपाय है इनसे बचने का। अत· इस दिशा मे सदैव सक्रिय रहना चाहिए।"

धर्मेश का धर्मस्नेह और करुणा से ओत-प्रोत धर्मोपदेश सुनकर अमित ने तो भारी राहत महसूस की ही, सुनन्दा, सुनयना आदि सभी अन्य श्रोताओ को भी सुखद-अनुभूति हुई।

●

२५

लाभानन्द के ध्यान शिविर लगाने सम्बन्धी प्रस्ताव पर धर्मेश के युक्तिसगत विचार सुनकर और तो प्राय: सभी श्रोता सतुष्ट हो गये, परतु लाभानन्द के मन मे अभी भी उन योग साधना के ध्यान शिविरो का आकर्षण कम नही हुआ था, क्योकि वह उन ध्यान शिविरो मे जाकर उनसे होने वाले मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य लाभ का प्रत्यक्ष अनुभव करके जो आया था।

लाभानद ने धर्मेश से विनम्रतापूर्वक निवेदन किया - "भले आप उन जैसे शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की मुख्यता वाले योग साधना के ध्यान शिविर न लगायें, जिनमे व्यायाम के विविध आसन और प्राणायाम आदि क्रियाये ही मुख्य रहतीं है, पर जिनागम मे भी तो ध्यानो का विस्तृत वर्णन है। वहाँ ध्यान की प्रयोग पद्धति भी तो होगी ही। जैन साधु-सतो की तो ध्यान और अध्ययन - ये दो ही क्रियाये मुख्य होतीं है। क्यों न हम भी उसी विधि को आत्मध्यान की मुख्यता से गृहस्थोपयोगी बनाकर विकसित करे ? क्या जिनागम मे ध्यान करने की कोई प्रयोग पद्धति नहीं है ?"

अन्य उपस्थित श्रोताओ को लाभानन्द की यह बात जँच गई, अत: उन्होने भी ज्ञानार्णव शास्त्र की ओर धर्मेश गुरुजी का ध्यान आकर्षित करते हुए लाभानन्द के प्रस्ताव के पक्ष मे अपनी राय व्यक्त की।

जब लाभानन्द की बात का श्रोताओ ने भी समर्थन करते हुए धर्मेशजी से ध्यान के शिविर लगाने का विनम्र आग्रह किया तो धर्मेश ने गभीर होकर कहा -

"भाई जिस ध्यान की क्रियाओं से तुम इतने प्रभावित हो, उसके बारे मे भी मुझे सब पता है। वर्तमान में शरीरविज्ञान और मनोवैज्ञानिक पद्धति के अनुसार सामान्य ध्यान के तीन आयाम हैं - शारीरिक, मानसिक और

धर्मेश के स्नेह और करुणा से ओत-प्रोत उपदेश को सुनकर अमित ने तो भारी राहत महसूस की ही, अन्य श्रोताओ को भी सुखद अनुभूति हुई।

अमित ने कहा - "भाई जी ! सुना है कि ये आर्त्त-रौद्र ध्यान तो बड़े-बड़े त्यागी व्रती और महाव्रती मुनिराजो तक के होते हैं, ऐसी स्थिति में हम जैसे व्यक्ति इनसे कैसे बच सकते हैं ?"

धर्मेश ने कहा - "घबराओ नही, मित्र ! यद्यपि तुमने जो सुना है, वह भी ठीक ही सुना है। शास्त्रानुसार रौद्रध्यान पचम गुणस्थानवर्ती देश सयमियो के तथा आर्त्तध्यान मे निदान को छोडकर इष्टवियोग, अनिष्टसयोग और पीडा चिन्तन का अस्तित्व मुनिराजो की भूमिका में भी पाया जाता है।

पर ध्यान रखो, इससे अपने को न घबडाने की ही जरूरत है और न शिथिल ही होना है, बल्कि सबको अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सावधानी वर्तनी है।

जितने और जैसे आर्त्त-रौद्रध्यान उनके होते है, वे उन्हे हानि नही पहुँचा पाते, क्योकि उनके पास तत्त्वज्ञान का बल है और सम्यक्चरित्र का संबल है।

जैसे हम-तुम प्रभावित हो जाते है, वैसे वे प्रभावित नहीं होते। सचमुच व्रती-महाव्रतियो के आर्त्त-रौद्र सपेरो के सापो के समान है, जो विषदत विहीन केवल कहने के साँप हैं, उन्हे देखकर हमे अपने में होने वाले कषाय से कलुषित आर्त्त-रौद्र के खतरनाक विषधरो से नहीं खेलना चाहिए, उन्हे मनोरजन का साधन नही समझना चाहिए।

ये खोटे ध्यान हमारे पास रहेगे तो फिर भी। उन्हे रहने से तो हम नहीं रोक पायेंगे, पर हम भी तत्त्वज्ञान के महामत्र से उन्हें विषदत विहीन बना सकते हैं। अप्रशस्त से प्रशस्त मे पलट सकते है, धर्मध्यान के रूप में भी बदल सकते है। जिनवाणी का स्वाध्याय एव देव-गुरु-धर्म की शरण ही एकमात्र उपाय है इनसे बचने का। अतः इस दिशा मे सदैव सक्रिय रहना चाहिए।"

धर्मेश का धर्मस्नेह और करुणा से ओत-प्रोत धर्मोपदेश सुनकर अमित ने तो भारी राहत महसूस की ही, सुनन्दा, सुनयना आदि सभी अन्य श्रोताओं को भी सुखद-अनुभूति हुई।

२५

लाभानन्द के ध्यान शिविर लगाने सम्बन्धी प्रस्ताव पर धर्मेश के युक्तिसगत विचार सुनकर और तो प्रायः सभी श्रोता सतुष्ट हो गये, परतु लाभानन्द के मन मे अभी भी उन योग साधना के ध्यान शिविरो का आकर्षण कम नही हुआ था, क्योकि वह उन ध्यान शिविरों मे जाकर उनसे होने वाले मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य लाभ का प्रत्यक्ष अनुभव करके जो आया था।

लाभानद ने धर्मेश से विनम्रतापूर्वक निवेदन किया - "भले आप उन जैसे शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की मुख्यता वाले योग साधना के ध्यान शिविर न लगायें, जिनमे व्यायाम के विविध आसन और प्राणायाम आदि क्रियाये ही मुख्य रहतीं है, पर जिनागम मे भी तो ध्यानो का विस्तृत वर्णन है। वहाँ ध्यान की प्रयोग पद्धति भी तो होगी ही। जैन साधु-सतो की तो ध्यान और अध्ययन - ये दो ही क्रियाये मुख्य होतीं हैं। क्यों न हम भी उसी विधि को आत्मध्यान की मुख्यता से गृहस्थोपयोगी बनाकर विकसित करे ? क्या जिनागम में ध्यान करने की कोई प्रयोग पद्धति नही है ?"

अन्य उपस्थित श्रोताओ को लाभानन्द की यह बात जँच गई, अतः उन्होने भी ज्ञानार्णव शास्त्र की ओर धर्मेश गुरुजी का ध्यान आकर्षित करते हुए लाभानन्द के प्रस्ताव के पक्ष मे अपनी राय व्यक्त की।

जब लाभानन्द की बात का श्रोताओ ने भी समर्थन करते हुए धर्मेशजी से ध्यान के शिविर लगाने का विनम्र आग्रह किया तो धर्मेश ने गंभीर होकर कहा -

"भाई जिस ध्यान की क्रियाओं से तुम इतने प्रभावित हो, उसके बारे में भी मुझे सब पता है। वर्तमान में शरीरविज्ञान और मनोवैज्ञानिक पद्धति के अनुसार सामान्य ध्यान के तीन आयाम हैं - शारीरिक, मानसिक और

आध्यात्मिक। शरीरविज्ञान के अनुसधान के अनुसार ध्यान का प्रथम प्रभाव शरीर तत्र पर पडता है, इससे रक्तसचार, हृदयस्पन्दन, ग्रन्थियो का रसस्राव और मनोभावना भी प्रभावित होती है। यह ध्यान उत्तरोत्तर शरीर, मन और अन्त चेतना को ऊर्धमुखी बनाता है। अन्य शारीरिक क्रियाओ के समान ध्यान से भी मस्तिष्क की तरगो मे परिवर्तन आता है।

इसप्रकार सामान्य ध्यान तन को विश्रान्त और मन को स्थिर करने की प्रक्रिया है। ध्यान से इन्द्रियाँ भी स्वत नियत्रित हो जातीं हैं। इस ध्यान के अभ्यास से शरीर के नाडीतत्र और मेरुदण्ड मे भी जागरण होता है।

भारतीय योगाभ्यासियो की भी लगभग यही मान्यता है कि **योग साधना शरीर तत्र के शोधन की प्रक्रिया है और मनोवृत्तियो के नियत्रण और रूपान्तरण के लिए भी योग साधना व ध्यान उपयोगी है।** इसप्रकार योग, प्राणायाम और ध्यान शरीर एव मन के नियत्रण मे लाभकारी हैं। इस बात से मै अनभिज्ञ नहीं हूँ।''

धर्मेश ने आगे कहा - ''इसमे भी सन्देह नही कि यह योगसाधना और तत्सम्बन्धी ध्यान की प्रक्रिया शारीरिक स्वास्थ्य लाभ एव मानसिक तनावो से छुटकारा पाने के लिए प्राकृतिक नियमो की निकटवर्ती होने से अन्य उपचारो की तुलना मे सर्वोत्तम है। स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से तो इसकी उपयोगिता असदिग्ध ही है, परतु इस योग और प्राणायाम के द्वारा शरीर के अगो व उपागो पर अपना ज्ञानोपयोग केन्द्रित करने से अर्थात् शरीर के अग-अग का ध्यान करने से आत्मा का किंचित् भी हित नही होता।

वस्तुत जैनदर्शन के अनुसार तो यह योगसाधना और प्राणायाम आदि धार्मिक क्रियाये ही नही है, क्योकि आचार्य अकलक देव, आचार्य शुभचद्र आदि अनेक मनीषियो ने प्राणायाम को मोक्षमार्ग मे बाधक माना है।

वे लिखते है - **मोक्षमार्ग मे प्राणायाम कार्यकारी नही; क्योंकि श्वास-उच्छ्वास रोकने की वेदना से शरीरपात होने का प्रसंग है। इसकारण ध्यानावस्था मे श्वासोच्छ्वास स्वाभाविक होना चाहिए।**[१]

---

१ राज वार्तिक, ९/२६

प्राणायाम में पवन के साधन से विक्षिप्त हुआ मन स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं होता। इस कारण भी मोक्षमार्ग मे प्राणायाम कार्यकारी नहीं। वहाँ 'ध्यान' शब्द का अर्थ ही जैनदर्शन के धर्मध्यान से सर्वथा भिन्न है। जैनदर्शन के धर्मध्यान की तो बात ही कुछ और है, वह तो आत्मज्ञान के बिना होता ही नहीं है। धर्मध्यान करने के लिए तो आत्मानुभूति होना अनिवार्य है।

वस्तुत आप लोग 'ध्यान' शब्द से भ्रमित हो रहे हैं। जैनदर्शन का 'ध्यान' शब्द और योग साधना मे प्रयुक्त 'ध्यान' में कोई खास तालमेल नहीं है। दोनो की परिभाषाये एव व्याख्याये बिल्कुल भिन्न-भिन्न है।

जैनदर्शन के अनुसार निश्चयत· धर्मध्यान आत्मा की अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे साधक अपने ज्ञानोपयोग को इन्द्रियों के विषयो व मन के विकल्पों से, पर-पदार्थों से एवं अपनी मलिन पर्यायों पर से हटा कर अखण्ड, अभेद, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा पर केन्द्रित करता है, अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा पर स्थिर करता है।

बस, इसे ही निश्चय से धर्मध्यान कहा जाता है, योग साधना और ध्यान शिविरो मे इस ध्यान की तो चर्चा ही नही होती।

वस्तुत. धर्मध्यान ज्ञानोपयोग की वह अवस्था है, जहाँ समस्त विकल्प शमित होकर एकमात्र आत्मानुभूति ही रह जाती है, विचार शृंखला रुक जाती है, चचल चित्तवृत्तियाँ निश्चल हो जाती हैं। अखण्ड आत्मानुभूति मे ज्ञाता-ज्ञेय का एवं ध्याता-ध्येय का भी विकल्प नहीं रहता।

इसप्रकार निश्चय धर्मध्यान की साधना के लिए व्यवहार धर्मध्यान मे चिंतित तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा ज्ञानोपयोग को आत्मकेन्द्रित किया जाता है।

इसके विपरीत योग साधना के ध्यान शिविरो में आसन और प्राणायाम के माध्यम से साधको को ध्यान करने के जो निर्देश दिये जाते हैं, उनमें ध्यान को अर्थात् ज्ञानोपयोग को नख से सिर पर्यन्त शरीर के एक-एक अग पर, श्वास-उच्छवास पर ले जाकर वहाँ रोकने और सांस को आते-जाते देखने-जानने

और अमुक अग शिथिल हो रहा है, शून्य हो रहा है - ऐसा अनुभव करने को कहा जाता है। अपने मन को श्वास-उच्छ्वास पर ले जायें और साक्षी भाव से आते-जाते श्वासोच्छ्वास का अनुभव करे - ऐसे निर्देश दिये जाते हैं। इस ध्यान मे आत्मा की चर्चा ही जब कहीं नही आती तो आत्मानुभूति होने का तो सवाल ही नही उठता। सचमुच ये तो मात्र स्वास्थ्य साधना के केन्द्र है, इनसे हमारे धर्मध्यान का लक्ष्य पूरा नही होता।

लोगो को क्या, लोकरुचि तो वेसे ही बहिर्मुखी है। लोगों को तो बहाना मिलना चाहिए, वह भी धर्म के नाम पर। इसके लिए तो चाहे जितनी भीड इकट्ठी कर लो। सबको स्वस्थ रहने का लोभ तो रहता ही है। स्वस्थ रहने की क्रिया स्वास्थ्य क लिए करे तो कोई बाधा नही, पर धर्मक्रिया मानकर तो न करे।''

लाभानद ने पूछा - ''गुरुजी । ये आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार जो आपने बताये, इनका उल्लेख जिनागम मे भी तो आया है न ? सुना है आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव ग्रन्थ मे तो इनका बहुत विस्तृत वर्णन है। क्या स्वरूप है इनका ओर ध्यान मे इनकी क्या उपयोगिता है ?''

धर्मेश ने उत्तर दिया - ''हाँ, तुमने ठीक ही सुना हे। आचार्य शुभचन्द्र ने इन पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है और पूर्वाचार्यों ने जो प्राणायाम के तीन भेद बताये है - उसका भी उन्होने उल्लेख किया है। प्राणायाम के बारे मे ज्ञानार्णव का मूल कथन इसप्रकार है -

त्रिधा लक्षण भेदेन, सस्मृत· पूर्व सूरिभि.
पूरक· कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनत्तरम् ॥ ३ ॥ , सर्ग २९

पूर्व आचार्यों के द्वारा लक्षण के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का माना गया है - कुम्भक, पूरक एव रेचक।

कुम्भक -' श्वास को धीरे-धीरे अन्दर खींचकर नाभिरूप कमल के भीतर कुभ के आकार मे दृढतापूर्वक रोकना।

पूरक - कुभक मे खीची हुई श्वास को रोके रहना।
रेचक - पूरक मे रोकी हुई श्वास को धीरे-धीरे छोडना।

ये तीनो श्वास की क्रियाये करना ही प्राणायाम कहलाता है।

वस्तुत प्राणायाम श्वासोच्छ्वास के अन्तर्गमन-बहिर्गमन एवं अन्त स्थापन के नियत्रण की प्रक्रिया है। कहते है - उपर्युक्त प्राणायामो मे रेचक से उदर की व्याधि और कफ नष्ट होता है, पूरक से शरीर पुष्ट होता है और बहुत-सी व्याधियो का नाश होता है तथा कुभक से हृदय कमल विकसित होता है। इसप्रकार प्राणायाम मूलत· शारीरिक स्वास्थ्य लाभ का विषय है।

आचार्य शुभचन्द्र ने प्राणायाम के अतिरिक्त प्रत्याहार - की चर्चा भी स्वतत्र एकअध्याय मे की है। प्राणायाम के अध्याय मे पहले तो प्राणायाम को अन्त करण की शुद्धि के लिए अनुशंसित किया, परतु बाद मे प्रत्याहार की अनुशसा करते हुए प्राणायाम को ध्यान में बाधक बतलाया है।

उनका कहना है - प्राणायाम की क्रियाये स्वय अपने आप मे श्रम साध्य होने से थकान उत्पन्न करने के कारण ध्यान में बाधक बनतीं है। अत धर्मध्यान के लिये प्राणायाम उपयुक्त नही।

इसप्रकार आचार्य शुभचद्र ने भी प्राणायाम को बाधक ही माना है।"

धर्मेश के आगम सम्मत एव युक्ति सगत इन विचारो को सुन अन्य आत्मार्थी तो सन्तुष्ट व प्रसन्न हुए ही, लाभानद, रामानन्द एव मनमोहन की समझ मे भी आ गया।

धर्मेश ने आगे कहा - "प्रत्याहार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव मे ही कहते है - **इन्द्रिय और मन के विषयों से अपने उपयोग को खीचकर, इच्छानुसार जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लगाने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते है।**

ऐसा प्रत्याहार करनेवाला ज्ञानी साधक पाँचो इन्द्रियो एव मन के विषयो से अपने ज्ञानोपयोग को (मन को) पृथक् करके आकुलता से रहित होता हुआ आत्मस्थ होता है।

'सम्यक् समाधि सिद्धयर्थ प्रत्याह प्रशस्यते ।
प्राणायामेन विक्षिप्त मन स्वास्थ्य न विन्दति ॥

समाधि को भली-भाँति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार ही प्रशसनीय है, क्योकि प्राणायाम से क्षोभ को प्राप्त हुआ मन शीघ्र स्वस्थ नही हो पाता।'

प्राणायाम की सफलता शरीर को हल्का-भारी करने मे तो उपयोगी है, परतु मुक्ति के अभिलाषियो को अभीष्ट सिद्धि मे तो प्राणायाम बाधक ही है।

प्राणायाम के बारे मे आचार्य स्वय लिखते है - 'जो प्राणायाम की वायुसचार विषयक क्रियाये अपने सदेह और पीडा की कारण हैं, उनसे क्या अभीष्ट सिद्धि होने वाली है, कुछ भी नही। जो मुक्ति का हेतु है, ऐसे ध्यान व प्रत्याहार को ही क्यो न अपनाये ?'

इस तरह हम देखते है कि जैनदर्शन मे सामूहिक ध्यान की तो ऐसी कोई विधि नही है, जिसमे दूसरो के निर्देशन मे सामूहिक ध्यान किया जाता हो।"

इसप्रकार धर्मेश ने लाभानद की मनोगत समस्या का शास्त्र सम्मत समाधान करके यह स्पष्ट कर दिया कि शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से योग साधना की उपयोगिता होते हुये भी आत्मकल्याण मे इसका कोई स्थान या योगदान नही है।

धर्मेश के इस कथन से लाभानद का ध्यान के शिविर लगाने सबन्धी दुराग्रह स्वत. समूल शमित हो गया। उसकी समझ मे आ गया कि शिविर तो ज्ञान के ही लगते हैं, ध्यान के नही। •

---

१ ज्ञानार्णव श्लोक ४, सर्ग ३०

२६

पवित्र उद्देश्य, नि.स्वार्थ भाव और निश्चल मन से निकली अन्तरात्मा की आवाज सरलस्वभावी सजग श्रोताओ के मन को छुए बिना नही रहती।

यदि वक्ता की वाणी मे आगम का आधार हो, युक्तियो का आलम्बन और स्वानुभवजन्य आत्मविश्वास हो, तब तो कहना ही क्या है ?

ऐसे उत्कृष्ट वक्ताओ को जब समझाने का विकल्प आता है तो समझना चाहिए कि उस क्षेत्रकाल मे ऐसे भली होनहार वाले मदकषायी श्रोता भी आस-पास मे कही न कही होगे ही, क्योकि पुण्यात्माओ के विकल्प निरर्थक नही हुआ करते। ध्यान पर हो रहे धर्मेश के प्रवचन इस अनुभव सिद्ध बात को सार्थक सिद्ध कर रहे थे।

धर्मेश ने जब अपने प्रवचन मे इस आर्त्तध्यान की यथार्थ स्थिति और उसके दु.खद फल का सशक्त भाषा मे वैराग्यवर्द्धक सजीव चित्रण प्रस्तुत किया तो अनेक लोगो की तो आँखे भर आईं, हृदय गद्गद हो गया। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि लोगो को रातभर नीद भी नहीं आई। सबसे अधिक अमित, सुनन्दा, मनमोहन और सुनयना की नींद हराम हुई थी, क्योकि धर्मेश के प्रवचन ने सबसे अधिक इन्ही लोगो की दुखती रग को छुआ था, इन्हीं के हृदय पर गुजर रही स्थिति को उजागर किया था। इन्हें ऐसा लग रहा था मानो धर्मेश ने इनके हृदय में बैठकर इनके मनोभावो का ही चित्रण किया हो।

मनमोहन सोच रहा था - यह आर्तध्यान ऐसा राजरोग है, जो थोड़ा- बहुत तो धर्मात्माओ को भी होता है, पर तत्त्वज्ञान से शून्य हम जैसे अज्ञानियों को तो यह बहुत बडा अभिशाप है। हम जैसो को तो यह कभी-कभी जीवन-मरण तक का प्रश्न बन जाता है। इससे कैसे बचा जाये ?

सुनन्दा तो अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान की साक्षात् मूर्ति ही है। उसका अब तक का सपूर्ण जीवन इसी आर्तध्यान मे ही बीता है। पिता मनमोहन के दुर्व्यसनी होने के कारण उसका बचपन जिन प्रतिकूल परिस्थितियो मे बीता था, जो-जो यातनाये उसे उन प्रतिकूल प्रसगो मे भोगनी पडीं थी, धर्मेश का प्रवचन सुनकर उन अनिष्ट सयोगो क एक-एक दृश्य उसकी ऑखो के सामने चलचित्र की भॉति आने-जाने लगे। धर्मेश का प्रवचन सुनकर वह भी यही सोच रही थी - हाय! **इन भावो का फल क्या होगा ? इनसे छुटकारा कैसे मिले ?**

भरे यौवन म अमित जैसे पियक्कड पति को पाकर जिन अनिष्ट सयोगो म एव उनके निमित्त से होने वाले आर्तध्यान के दुष्चक्र म वह फस गई थी, वे दृश्य भी उसकी दृष्टिपथ स गुजरे बिना नही रहे। वह रात भर बिस्तर पर पडी-पडी अनिष्ट की आशका से इतनी घबरा गई कि उसकी नीद ही गायब हो गई।

सुनयना इष्ट वियोगज आर्तध्यान का मूर्तरूप थी। उसका तो अबतक का पूरे जीवन का हाल ही बेहाल रहा। धर्मेश के प्रवचन से उसके स्मृति-पटल पर वे सभी दु खद दृश्य उभर आये। इष्टवियोग की परिकल्पनाओ से उसका बचपन बीता था और यौवन की सुखद कल्पनाये भी आकस्मिक

हुई दुर्घटना से अनायास ही धूल मे मिल गई थी। वे एक-एक दृश्य उसकी आँखो के आगे भी आने-जाने लगे थे।

अमित दुर्व्यसनो के कारण राज रोगो से ऐसा घिर गया था कि दिन-रात पीडा मे ही कराहता रहता। अब तो पीडा की कल्पना मात्र से चीखन-चिल्लान लगता। कल के प्रवचन मे जब पीडा चितन आर्तध्यान के दु खद दुष्परिणामो का चित्रण हुआ तो अमित की दशा और भी अधिक खराब हो गई। वह तो गिडगिडा कर वही धर्मेश के चरणो से लिपट गया। और कहने लगा - इससे बचने का उपाय बताइए। आप जो कहेगे, मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।

इसीतरह मनमोहन का अब तक सारा समय निदान नामक आर्तध्यान मे ही बीता था। धर्मेश के प्रवचनो से उसे भी अपनी इस भूल का पूरा-पूरा अहसास हो गया। उसकी आँखो के सामने भी वे सब दृश्य स्पष्ट झलकने लगे, जिनमे उसने लौकिक कामनाओ से अपने धन-वैभव के अर्जन, सरक्षण एव उसके उपभोग हेतु देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के नाना प्रयास किये थे, मिन्नते मागीं थी। उसे महसूस हो रहा था कि उसकी वे धार्मिक क्रियाये सकाम होने से निदान आर्तध्यान ही थीं। उनमे धर्म-कर्म किचित् भी नही था।

लौकिक कामनाओ से किए गये पूजा-पाठ, जप-तप आदि सब निदान आर्तध्यान की कोटि मे ही आते हैं। धर्मेश के कल के प्रवचन मे यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो गई थी।

प्रवचन मे तो यह भी आया था कि मिथ्यादृष्टि की समस्त शुभभावनाएँ और शुभध्यान भी आर्तध्यान मे ही माने जायेंगे; क्योकि मिथ्यात्व की भूमिका में धर्मध्यान तो होता ही नही है और ध्यान के बिना कोई रहता नही है; अत• मिथ्यादृष्टि का शुभभाव निदान नामक आर्तध्यान ही है।

इसीप्रकार और भी सभी श्रोता लगभग ऐसा ही महसूस कर रहे थे कि किसी न किसी रूप में हमारे आर्तध्यान ही हो रहा है। धर्मेश के प्रवचनों से [illegible] जिसने भी अपने अंदर झांक कर देखा तो सभी को ऐसा लगा

- मानो वे हमारे हृदय की बात ही कर रहे हो। सभी को अपनी-अपनी भूल का अहसास हो रहा था, अपनी-अपनी कमजोरी ख्याल मे आ रही थी। अपने परिणामो की पापमय परिणति स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

सभी लोग बराबर समझ रहे थे कि अभी धर्म ध्यान होने की तो किसी मे पात्रता ही नही है। होगी भी कहाँ से ? उसके लिए तो पहले सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है ? चतुर्थ गुणस्थान मे ही धर्मध्यान का शुभारभ होता है। उसके पहले मिथ्यात्व की भूमिका मे तो धर्मध्यान होता ही नही है। इस दृष्टि से विचार करे तो मिथ्यादृष्टि की पूजा-भक्ति, व्रत-उपवास आदि क्रियाओ मे जो ध्यान होता है, धर्म का बाह्य साधन होने से उसे लोक व्यवहार मे धर्मध्यान भले ही कहा जाता हो, पर मिथ्यात्व की भूमिका मे वस्तुत वह शुभभाव निदान नामक शुभ आर्तध्यान की कोटि मे ही आता है।

आगम एव युक्ति के आधार पर कही गई धर्मेश की एक-एक बात श्रोताओ के चित्त मे खचित हो गई। मिथ्यात्व की भूमिका मे धर्मकार्यों के पीछे भी कोई न कोई कामना होती ही है, चाहे वह यही क्यो न हो कि -

होऊ भव-भव स्वामी मेरे मै सदा सेवक रहूँ।

यह भी तो कामना ही है।

यदि इस आर्तध्यान से बचना है और धर्मध्यान की सचमुच भावना है तो उसके लिए तो वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु एव अनेकान्तमयी धर्म व स्याद्वाद शैली मे निरूपित शास्त्रो का यथार्थ निर्णय, जीव-अजीव, आस्रव-बन्ध, सवर-निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप आदि तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान तथा स्व-पर भेदविज्ञान आदि ही करना होगा।

निश्चय धर्मध्यान ज्ञानचेतना की वह अवस्था है, जहाँ समस्त शुभ विकल्प शमित होकर एक आत्मानुभूति ही रह जाती है, भेदरेखायें मिट जाती हैं, विचारश्रृखला रुक जाती है, चित्त की चंचलवृत्ति निश्चल हो जाती है, अखण्ड आत्मानुभूति मे ज्ञान-ज्ञेय का भेद नहीं रहता।

जिस विकल्पात्मक साधना से उपयोग को आत्मकेन्द्रित किया जाता है, वह व्यवहार धर्मध्यान कहा जाता है। मुख्यत: द्रव्य-गुण-पर्याय, वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था, वस्तुस्वातत्र्य जैसे सिद्धान्तो के सहारे अकर्तृत्व की भावना को दृढ करते हुए बारह भावनाओ और वैराग्य भावना के माध्यम से ससार, शरीर और भोगो की असारता और क्षणभगुरता को जानकर, जगत से उदास होकर ही चचल चित्तवृत्ति नियत्रित की जा सकती है। इसी प्रक्रिया का नाम व्यवहार धर्मध्यान है।

जबतक पर मे किसी भी प्रकार से परिवर्तन करने/कराने का सोच रहेगा, तबतक मन की वृत्ति/प्रवृत्ति पर नियत्रण सभव नहीं होगा। अत: ध्यान के पूर्व लोक की स्वतत्र, स्वचालित वस्तुव्यवस्था का ज्ञान अति आवश्यक है।

शास्त्रानुसार ज्ञान तो बहुतो को हो जाता है, पर ज्ञान के साथ उस पर श्रद्धान भी अति आवश्यक है। प्रतीति के बिना प्रीति नही होती और प्रीति के बिना प्रवृत्ति नही होती। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का अत्यन्त घनिष्ठ सबध है। अत. सर्वप्रथम जैनदर्शन के भौतिक सिद्धान्तो का ज्ञान-श्रद्धान होता है, तब कही आत्मा का ध्यान होता है और ध्रुवधाम आत्मा के ध्यान से ही पर्याय मे ध्रुवता की प्राप्ति होती है।

जिसे अभी देव-अदेव का ही विवेक नहीं है, आस्रव-सवर मे अतर स्पष्ट नही है, बध व मोक्ष की प्रक्रिया का पता नही है, जीव-अजीव मे भेदज्ञान नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा, कैसे होगा ? और जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, धर्मध्यान भी नही हो सकेगा।

इसप्रकार धर्मेश के प्रभावशाली तत्त्वज्ञानपरक प्रवचनो को सुनकर सभी श्रोता अपने को धन्य अनुभव कर रहे थे। •

''हमने कभी सोचा भी नही होगा, साधारणत. कोई सोच भी नही सकता कि सवेरे-सवेरे आँखे खोलते ही हम प्रतिदिन जिन छोटे-मोटे कामो से अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करते हैं, उनसे भी भयकर पापो का बन्ध होता है। पर वास्तविकता यह है कि हमारे प्रभात का प्रारम्भ अधिकाश पापभावो से ही होता है और वह भी ऐसे व्यर्थ के कामो से, जिनसे हमारे किसी लौकिक प्रयोजन की पूर्ति भी नही होती।

यदि थोडा भी विवेक से काम लें तो हम बहुत से व्यर्थ के पापो से बच सकते हैं और अपने जीवन को मगलमय बना सकते है।

विचार कीजिए - बिस्तर छोडते ही सबसे पहले हमारे हाथो मे जो समाचारपत्र होता है, मुख्य समाचार पढते ही हमारा मनमर्कट या तो हर्षित हो उछल-कूद करने लगता है या चित्त उदास हो जाता है। उस समय मन मे जो हर्ष-विषादरूप नानाप्रकार के सकल्प-विकल्प होते है, उनमे हर्ष के भाव रौद्रध्यान और विषाद के भाव आर्तध्यान की कोटि मे आते है, जो कि विशुद्ध पापभाव हैं और क्रमश. नरक गति व तिर्यंचगति के कारण है।

जरा सोचिये - जब हम बच्चो से लाड-प्यार करते है, उन्हे गोद मे लेकर खिलाते हैं, उनके साथ अपना और उनका मनोरजन करते है, उन्हे नहलाते है, अच्छे-अच्छे कपडे पहनाते है, उनके एक-एक क्रिया-कलाप पर प्रसन्न होते हैं, उनका बर्थ-डे मनाते, शादी-ब्याह करते, पार्टियाँ देते, स्वय भी खाते-पीते, हसते-हसाते ऑफिस जाते, मित्रो से बातचीत करते, माता-पिता, पत्नी-पुत्र से स्नेहपूर्वक बातें करते हैं, तब क्या आपको ऐसा लगता है कि आप सचमुच कोई पाप कर रहे हैं ? अरे । न तो आप ही ऐसा महसूस करते हैं और न सामान्य रूप से जगत ही ऐसा मानता है कि ऐसा करके हमने कोई पाप किया है।

जबकि वास्तविकता यह है कि ये सब अशुभभाव होने से पाप रूप ही हैं, आनन्दरूप होने से रौद्रध्यान हैं, जिनका फल नरकगति है, कुगति है।"

इसप्रकार अपने दैनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य मे रौद्रध्यान की चर्चा करते हुए धर्मेश ने कहा -

"हमे स्वय ही पता नही है कि हम कितने गहन अधकार मे हैं। बहुत सारे पापभाव तो हमे पाप से ही नहीं लगते। घर मे सब परिजन-पुरजन जब एकसाथ बैठकर बडे प्रेम से टी वी देखते हैं, पत्नी से प्रेमालाप करते हैं, बच्चो से बाते करते हैं, एक-दूसरे के साथ मनोरजन करते हैं, परस्पर प्रेम से रहने से मन ही मन प्रसन्न होते है, गौरवान्वित होते हे और अपने घर परिवार को आदर्श मानते हैं, परतु यदि धर्म की दृष्टि से समीक्षा करें और परिणामो की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि क्या सचमुच उस समय हमे पुण्यबध हो रहा है या पापबध हो रहा है अथवा मिथ्यात्व रूप महाअधर्म हो रहा है? निश्चित ही ये अशुभभाव होने से पाप परिणाम है और रौद्रध्यान के भाव है, इन्हे अनदेखा करना स्वय को धोखे मे रखना है।

इसके सिवाय और भी जो अशुभ भाव होने से पाप परिणाम है, उनमे आनन्द की अनुभूति रौद्रध्यान ही है, जिसे आगम मे इसप्रकार कहा गया है -

हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण के लिए निरन्तर चिंतन करना रौद्रध्यान है।

जो हिसा मे आनन्द मानता है, असत्य बोलने मे आनन्द मानता है, चोरी, विषयसेवन और परिग्रह सग्रह करने मे आनन्द मानता है, इन कार्यों मे ही जिसका चित्त लिप्त रहता है, रमा रहता है, वह सब रौद्रध्यान है।"

आर्त-रौद्र ध्यान का अन्तर स्पष्ट करते हुए धर्मेश ने कहा - "आर्तध्यान की प्रकृति दु:खस्वरूप है और रौद्रध्यान की प्रकृति आनदरूप है। कहो भाई अमित! तुम्हारा - 'खाओ-पिओ और मौज करो' वाला सिद्धान्त किस ध्यान की कोटि मे आता है ?"

अमित एकक्षण सोचकर बोला - "आपके कहे अनुसार तो ये परिणाम रौद्रध्यान रूप ही हुए; क्योंकि खाओ-पियो और मौज उड़ाओ वाली वृत्ति विषयों में आनन्द मानने रूप ही तो है।"

मुस्कराते हुए धर्मेश ने कहा - "वाह । भाई वाह।। बात तो तुमने ध्यान से सुनी और समझी भी, इसके लिए तुम्हे जितना भी धन्यवाद दिया जाये कम है। भाई । सारा जगत इन्ही विषयो मे और विषय सामग्री के सग्रह करने मे मगन है। किसी को कुछ खबर ही नही है कि हमारे इन परिणामो के फल मे हमारी क्या दुर्गति होगी ?

देखो भाई, जैनधर्म के अनुसार पुण्य-पाप व धर्म का मूल आधार तो अभिप्राय व मान्यता ही है। इसीलिए कहा है कि किसी भी तरह से दूसरे के द्रव्य को छीन लेने या हडप जाने का अभिप्राय, झूठ बोलने का अभिप्राय, दूसरो को मारने-पीटने व जान से मार डालने का अभिप्राय रौद्रध्यान है तथा पाँच स्थावर ओर त्रस - इन छहकाय के जीवो की विराधना मे और असि-मसि-कृषि आदि हिसक साधनो द्वारा परिग्रह के सग्रह मे आनन्द मानना भी रौद्र ध्यान ही है।

रौद्रध्यान को परिभाषित करते हुए आगम मे यह भी कहा है कि - जो भाव प्राणियो को जन्म-मरण के दु खो मे रुलाता है, भटकाता है, वह रुद्र कहा जाता है। इस अर्थ मे हिसा, झूठ, चोरी एव परिग्रह सग्रह का परिणाम रुद्र है, इन रुद्र भावो मे दिन-रात लगे रहकर आनन्द मानना रौद्रध्यान है।

स्वय या दूसरो के द्वारा किसी को मारने-पीटने पर, पीडित किए जाने पर हर्षित होना एव युद्ध म हार-जीत की भावना, बदला लेने की भावना आदि भी रौद्रध्यान है।"

रौद्रध्यानी व्यक्ति की बाह्य पहचान बताते हुए धर्मेश ने बताया -

"क्रूर होना, हथियार रखना, हथियार चलाने की कला मे निपुण होना, हिसा की कथा सुनने मे रुचि लेना, टेढीभौंह, विकृत मुखाकृति, क्रोधादि मे पसीना आने लगना, शरीर काँपना आदि तथा कठोर वचन, मर्मभेदी वचन, आक्रोश वचन बोलना, तिरस्कार करना, बाँधना, तर्जन करना, ताडन करना, परस्त्री पर अतिक्रमण करना आदि रौद्रध्यान की बाह्य पहचान है।"

लोक अनुभव के आधार से रौद्रध्यानियो का चित्रण करते हुए धर्मेश ने आगे कहा - "जो मात्र मनोरजन के लिए शिकार खेलते हैं, मुह मे तिनका

रखने वाले भोले-भाले, दीन-हीन खरगोश एव हिरणो जैसे मूक पशुओ को अपने हथियार का निशाना बनाकर प्रसन्न होते हैं, भालुओ, बन्दरो, सर्पों तथा तोतो, चिडियो आदि को बन्धन मे डालकर अपना व दूसरो का मनोरजन करते हुए उन्हे पीडित कर उनसे जो आजीविका साधने की सोचते हैं, यह सब रौद्रध्यान ही है।

और भी सुनो - "जिन लोगो को पशु-पक्षियो मे मुर्गे, तीतर, भैंसे, बकरे, मेढे, साड और मनुष्यो को लडाने-भिडाने तथा लड़ते हुए प्राणियो को देखने, उन्हे लडने के लिए उकसाने, प्रोत्साहित करने मे आनन्द आता है, वह सब रौद्र ध्यान है। भले ही वह व्यापारिक दृष्टि से किया जाये अथवा मनोरजन के लिए किया जाये, सब रौद्रध्यान की ही कोटि मे आते हैं।"

धर्मेश ने अमित से पूछा - "अब बताओ ? मार-काट, लडाई-भिडाई और अश्लील चलचित्र देखना एव ऐसा ही साहित्य पढने मे रुचि लेना तथा जासूसी उपन्यास पढना कौनसा ध्यान है ?"

अमित ने उत्तर दिया - "यह सब रौद्रध्यान ही है, क्योकि रौद्रध्यानियो को ही तो इसप्रकार के चलचित्र देखने और ऐसा ही साहित्य पढने आदि मे आनन्द आता है।"

धर्मेश ने प्रवचन के बीच मे ही अमित से पूछा - " बताओ अमित! तुम प्रतिदिन प्रात. जो न्यूजपेपर पढकर चुनावो की हार-जीत पर रुष्ट-तुष्ट होते हो, हर्ष-विषाद करते हो, वह कौनसा ध्यान है ?"

अमित ने कहा - "हर्ष मे रौद्र व विषाद मे आर्तध्यान होता है।"

अमित के उत्तर पर सतोष प्रगट करते हुए धर्मेश ने आगे कहा - "जैसी करनी वैसी भरनी की उक्ति के अनुसार ऐसे हिसानंदी रौद्रध्यानियों को इन परिणामों के फल में नियम से नरकगति मिलती है। जहाँ वे सागरों पर्यन्त लड़ते-भिड़ते रहेंगे तथा अन्य नारकी इनके देह के तिल के दानों के बराबर छोटे-छोटे टुकड़े करेंगे, जिससे इन्हें मरणान्तक पीड़ा तो होगी, पर मरेंगे नहीं।

जिन्हे लडना एव लडाना-भिडाना अधिक पसद है, उन्हें नरक में लडने को खूब मिलता है। जिन्हे नरक जाना पसद न हो, वे यहाँ लड-भिडकर दूसरो के जीवन को नरक न बनाय, किसी को परस्पर मे लडाये-भिडाये नही।

जो आजीविका के लिए हिमोत्पादक व्यवमाय, उद्योग-धधे करके अधिक धन अर्जित कर प्रमन्न होत है, वे भी हिमानन्दी रौद्रध्यानी ही हैं। मद्य-मास-मधु एव नशीली वस्तुआं का व्यापार, कीटनाशक वस्तुओ का उत्पादन आदि ऐसी अनेक चीजे है, जिनमे अनन्त जीव राशि की हिसा अनिवार्य है। अधिक कमाई के प्रलोभन म पड कर ऐसे निकृष्ट धधो को करके खुश होना हिसानदी रोद्रध्यान है, जिसका फल नरक है।

ध्यान रख, सब अपनी-अपनी ही समीक्षा व समालोचना कर, दूसरो का सन्मार्ग दर्शन करन क लिए जिनवाणी माता ही पर्याप्त है। दूसरो की टीका-टिप्पणी के चक्कर म हम अपने दोष नही देख पात।

चोर्यानन्दी रोद्रध्यान की सीमा मे न केवल डाकू और चोर ही आते हे, बल्कि वे मभी व्यापारी भी आत हे जो अधिक पेसा कमाने क चक्कर मे सोने-चादी, हीरे-जवाहरात की तस्करी कर तथा कर चोरी करके उसकी मफलता पर प्रसन्न होते है।

इसके सिवाय विपय सामग्री को सकलन करके, चतन-अचेतन परिग्रह का सग्रह करक, आवश्यकता मे अधिक भोगोभोग सामग्री का सग्रह करके, उसके दर्शन और प्रदर्शन म उत्साहित होना विषयानन्दी या परिग्रहानन्दी रोद्रध्यान हे।

यह बात आगम से तो सिद्ध है ही, युक्ति से भी सिद्ध होती है। जो व्यक्ति हिसा-झूठ-चोरी-कुशीलादि के सदर्भ मे किसी एक प्राणी की हत्या करता है तो यहाँ मनुष्य के द्वारा बनाये कानून मे उसे एक बार फासी की सजा देने का नियम है और यदि वही व्यक्ति दो, तीन, चार, सौ, दो सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, सख्यात, असख्यात व अनंत जीवों की हत्या करे तो इस मानवकृत न्यायालय के पास उसे अनन्तगुणी [illegible] है? कुछ भी नही, पर प्रकृति मे ऐसा अन्याय [illegible] अतः प्रकृति

के पास तो इसकी न्यायोचित्त व्यवस्था होनी ही चाहिए। बस, उसी व्यवस्था का नाम है नरक व निगोदवास, जहाँ अनन्त काल तक निरतर मरने का दु ख भोगना पडता है।

इसप्रकार इन खोटे ध्यानो का स्वरूप और फल जानकर इनसे बचे - इस मगल भावना के साथ आज की बात यहीं पूरी होती है, शेष कल।"

अज्ञान अन्धकार मे पडे सभी श्रोताओ क लिये धर्मेश सम्यग्ज्ञान सूर्य साबित हो रहा था। आज उसने जो-जो आर्त-रौद्र ध्यान पर प्रकाश डाला था, उस प्रकाश पुज से श्रोताओ के हृदय कमल की कली-कली खिल उठी थी। सभी श्रोता प्रवचन की विषयवस्तु पर विचार करने के लिये विवश हो गये थे।

घरो की ओर जाते हुये रास्ते मे जहाँ देखो वही झुण्डो मे खडे लोग प्रवचन मे चर्चित विषय की ही चर्चा करते दिखाई दे रहे थे।

अपने समूह मे खडा एक कह रहा था - "देखो। हम अपना मनोविनोद करने के लिए किसी भी व्यक्ति को अपने वचन बाण का लक्ष्य बनाकर उसकी मजाक उडाया करते है। किसी की टीका-टिप्पणी किया करते, किसी को बुरी आदतो क लिए कोसते रहते। चाहे जिसको अपनी चर्चा का विषय बनाकर उसकी बुराई-भलाई किया करते और ऐसा करके खुश होते रहते।

अभी तक हमे पता ही नही था कि इससे भी पाप बध होता है। अन्यथा हम ऐसा क्यो करते ?

भाई। हमे अब सकल्प करना चाहिए कि एक-एक बात सोच-समझकर ही किया करेगे, ताकि कम से कम व्यर्थ के पाप से तो बचे ही रहे।"

समूह मे खड़े सभी लोग उसकी बाते ध्यान से सुन रहे थे और सिर हिलाकर स्वीकार कर रहे थे कि तुम बिल्कुल ठीक कह रहे हो। इसी में हम सबका भला है।

इसतरह धर्मेश की धर्मामृत वर्षा से भीगे सभी श्रोता इन पाप भावो से बचे रहने के सकल्प करते हुये अपने-अपने घर चले गये। •

२८

हृदयतत्री को झकृत कर देनेवाले आर्तध्यान-रौद्रध्यान पर हुए धर्मेश के प्रवचनो से श्रोताओ पर जो अमिट प्रभाव पडा, उसे देख एकबार तो सबके मनो मे 'निमित्तो की अकिचित्करता' जैसे अटल सिद्धान्त पर भी प्रश्नचिह्न लग ही गया।

अनायास ही अमित के मुँह से निकला - "अरे ! यह कैसा अकिचित्कर निमित्त है, जिसने मेरे और मुझ जैसे अनेको नास्तिको के हृदयो को भी हिला दिया ? यदि **निमित्त सचमुच अकिचित्कर ही होते है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही करता, दोनो मे अत्यन्ताभाव पडा है।** तो फिर हम यह क्या देख रहे है, जो उस वाणी का जादुई असर हमारे हृदयो पर हो रहा है ? हमारी ऑखो के सामने देखते-देखते धर्मेश के उपदेशो से लाखो लोगो के जीवन बदल गये है, लोगो की आत्मा मे आस्था उत्पन्न हो रही है और अनेको ने अहिसा का मार्ग अपना लिया है, अन्याय-अनीति अभक्ष्य भक्षण से मुख मोड लिया हे।

धर्मेश क निमित्त से इतना बडा परिवर्तन ? निश्चय ही यह एक चमत्कारिक काम हे। इमके लिए उसकी जितनी प्रशसा की जाये, कम है। जो भी सुनता हे, वही चुम्बकीय आकर्षण की तरह सहज ही खिचा चला आता है "

अमित मन ही मन सोचता है - यह सब यो ही अधभक्ति से नही हो रहा है। धर्मेश धर्म का मर्म खोलने और धर्म सम्बन्धी मिथ्या मान्यता के भ्रम को मेटने मे माहिर भी हो गया है। वह निमित्तो की अकिचित्करता को भी सहज निमित्त-नैमित्तिक सबध सिद्ध करके समझा देता है। यह बात सच है कि मेरी बुद्धि मे अभी तक उसकी ये आध्यात्मिक बाते पूरी तरह बैठ नहीं पाई, पर यह निश्चित रूप से मेरी ही कोई कमजोरी है, जिसे मुझे स्वय समझना होगा।

धर्मेश के प्रवचन सुनकर उनके श्रोताओं की स्थिति प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवियत्री मीरा जैसी हो रही थी, जिसने राज-पाट तथा पति आदि सबका मोह त्यागकर **मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई** कहकर केवल कृष्ण को ही अपने मन मे प्रतिष्ठित कर लिया था।

भले ही धर्मेश द्वारा श्रोताओ की शिक्षा-दीक्षा विधिवत् किसी गुरुकुल मे गुरु-शिष्य के रूप मे नही हुई थी, फिर भी उन्होने धर्मेश को अपने मन मे ज्ञानगुरु के रूप मे प्रतिष्ठित तो कर ही लिया था।

श्रद्धा का स्वरूप ही कुछ ऐसा है जो गुणो को ही महत्त्व देती है, छोटी-बडी उम्र नही देखती।

जब धर्मेश न चौबीसो घण्टे हो रहे आर्त-रौद्र परिणामो का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया तो अधिकाश लोगो के तो रोगटे खडे हो गये।

एक ने कहा - ''हम तो ऐसा लगता ही नही था कि न्यूजपेपर पढने मे भी पाप होता है, हसने-खेलने मे, रोने-बिलखने मे, प्रलाप करने मे भी कोई पाप होता है। यह तो अब पता चला कि इस तरह विषयो मे आनन्द मानना/मनाना तो सबसे बडा परिग्रहानदी या विषयानदी रौद्रध्यान है, जिसका फल नरकगति है और रोना-बिलखना आर्तध्यान है, जिसका फल तिर्यचगति है।''

दूसरा वयोवृद्ध व्यक्ति बोला - ''अब क्या करें ? कैसे बचे इस पापप्रवृत्ति से ? अबतक पता नही था, सो अनजाने मे जो हुआ सो तो हो ही चुका है, पर अब जानबूझकर मक्खी तो नही निगली जा सकती थी।''

वैसे तो सभी प्रभावित थे, पर सम्पत सेठ, भूतपूर्व जागीरदार मनमोहन, अमित और लाभानन्द विशेष प्रभाव मे थे। आज वे सात बजे के बजाय पौने सात बजे ही ज्ञानगोष्ठी के कार्यक्रम मे आ बैठे थे। सभी मौन और चितन की मुद्रा मे बैठे थे। ऐसा लगता था, मानो ये लोग कल के रौद्रध्यान पर हुए प्रवचन से आतंकित हो और सोच रहे हो कि गुरुजी के बताये अनुसार तो हममे ऐसा एक भी नही है, जिसे किसी न किसी रूप में यह रौद्रध्यान न होता हो।

कुछ उद्योग धधों से जुडे लोग हैं, तो कुछ मनोरजन से जुड़े हैं। ऐसे भी बहुत हैं जो अपनी आदतो से मजबूर होकर बिना प्रयोजन ही रौद्रध्यान करते हैं।

सम्पत सेठ गोष्ठी मे चितन मुद्रा मे बैठे-बैठे कल के प्रवचन के बारे मे सोच रह थे - धर्मेश ने मेरी तो आँख ही खोल दी है। अन्यथा मुझे तो सातवे नरक मे भी जगह नही मिलती, क्योकि मै तो ऐसा विषयान्ध हो गया था कि भोगोपभोग सामग्री को अर्जित करने ओर उमका उपभोग करन के सिवाय मुझे और कुछ दिखता ही नही था। दिन-रात इसी एक ही उधड-बुन मे लगा रहता था कि न्याय-अन्याय स, झूठ-सच बोलकर - जैसे भी सभव हो, अधिक से अधिक धन सग्रह करना और उस यश कमाने व सुख-सुविधाये जुटाने मे खर्च करना। इसके लिए तस्करी करनी पडी तो उसमे भी मै पीछे नही रहा। हिसा का सहारा भी मैने लिया और सफलता पर फूला नही समाया।

इमप्रकार मैने तो सबसे अधिक हिसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी एव परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान ही किया हे। अब मेरा क्या हागा ? कैसे छुटकारा मिलेगा इन पापो से ?

इसी बीच धर्मश ने सम्पत मेठ का ध्यान भग करते हुए कहा - "कहो मेठ ! क्या सोच रहे हो ? कल की बात कुछ समझ मे आई या माथे क ऊपर से यो ही निकल गई ?"

सम्पत सेठ धर्मेश के मुख स अपना नाम सुनकर पहले तो सकपका गया, फिर माथे का पसीना पोछते हुए हाथ जोडकर बोला - "गुरुजी ! आप बिल्कुल सत्य फरमाते है। मै बैठा-बैठा यही सोच रहा था। आप तो ब्रह्मज्ञानी से लगत है। आपने मेर मनोगत भावो को कैम पहचान लिया ? कल के प्रवचन म तो आपने मेरे ही सार पापो को हथेली पर रखे आँवले की भाँति उजागर करक मेरे ऊपर बडा भारी उपकार किया है। मुझे ऐसा लग रहा था, मानो मेर लिए ही आपका पूरा प्रवचन हो रहा हो। अब आप मुझे इनसे बचन का भी कोई उपाय अवश्य बताइए। इसके लिए मैं आपका चिर ऋणी रहूँगा।"

मुस्कराते हुए धर्मेश ने कहा - "धैर्य रखो सेठ ! क्रम-क्रम से सब बात आयेगी। जिनवाणी मे सब कुछ हे, जिनवाणी माता के ही हम सब पर अनन्त उपकार है ?

भाई ! दिगम्बर आचार्य कोई गजब काम कर गये हैं, वे हम सब पर अपरिमित उपकार कर गये हैं। हम तो उनके दासानुदास हैं। उनका जितना भी गुणगान किया जाय, कम ही पडेगा।''

सम्पत सेठ की बात सुनकर मनमोहन मे भी हिम्मत आ गई। उसने सोचा - मै भी क्यो न अपनी भूल को मेटने के लिए, अपने पापो का प्रायश्चित्त करने के लिए धर्मेश के सामने अपने पेट का पाप कहकर हल्का हो जाऊँ ? क्यो न अपने मन का बोझा कम कर लूँ ?

जो भाव हुए हैं, सो तो हुए ही हैं। इन्हे छिपाये रखने का भाव भी एक अपराध ही है और फिर माता-पिता और गुरुजनो से तो कभी कुछ भी नहीं छिपाना चाहिए।

मन ही मन यह विचार कर मनमोहन ने कहा - ''गुरुजी ! मैं तो आपके उपकार से कृतार्थ ही हो गया हूँ। मुझे बचपन मे शिकार खेलने का बहुत शौक था। क्या बताऊँ गुरुजी ! मैं थोडे ही समय मे ऐसा निशानेबाज बन गया था कि मुझसे जीवन मे एक भी निशाना नही चूका होगा। न जाने कितने मूक प्राणियो के प्राण लिए होगे मैंने। मै सचमुच बडा पापी हूँ।

घुडसवारी तो ऐसी करता था कि घोडा भले ही दौडता-दौडता फैन डालने लगे, गिरे पडे, मरे, पर मुझे उसमे इतना आनंद आता कि मैं घण्टो घोडे को दौडाता ही रहता।

पशु-पक्षी लडाने मे भी मुझे भारी मजा आता। भले ही चोचे लडाते समय, माथे से माथा भिड़ाते समय, मुक्केबाजी करते एव एक-दूसरे को गिराते समय वे घायल हो जायें, उनकी हड्डियाँ टूट जाये, मरणासन्न हो जाये, तो भी मैं उनकी परवाह किए बिना ही अपना भरपूर मनोरजन किया करता। इसीतरह और क्या-क्या कहूँ ? कहने में शर्म आती है; पर कहे बिना प्रायश्चित्त नहीं होगा, मेरा मन हल्का नही होगा। अतः कह रहा हूँ।

भाई धर्मेश ! मैं जवानी के जोश में होश खो बैठा था। नगर की रूपवती कन्याओ और कुलांगनाओं का मनमाने ढंग से शोषण करना और उन्हें रोता-बिलखता छोड देना तो मेरे लिए मनोरंजन का कार्य था। जबतक जागीरदारी रही,

जागीरदारी का प्रभाव रहा, तबतक मैंने ये सब पाप किए, सचमुच इसी स्थिति में मरण हुआ तो शायद सातवा नरक भी मेरे लिए कम ही पडेगा ।

आपने जो कुछ वर्णन किया, उससे मुझे ऐसा लगा, मानो आपने मेरे जीवन में झाक कर ही यह सब कहा है। जब आप यह सब जानते है तो इन पापों से छुटकारा दिलाने का उपाय भी जानते ही होगे। वह भी बताइये न! आप प्रायश्चित्तस्वरूप जो भी दण्ड देगे, आदेश देंगे, वह हमारे सिर माथे होगा। हम आपका यह उपकार कभी नही भूलेगे।"

धर्मेश मनमोहन की पापपक मे आकठ निमग्न जीवन गाथा को सुनकर बहुत दु:खी हुआ। लम्बी सास लेते हुए उसने कहा - "खैर । कोई बात नही, पापी तो थोड़े बहुत अशो मे सभी होते ही है। मिथ्यात्व के फल मे यह नही होगा तो और क्या होगा ? पर तुम्हारे जीवन में पापाचरण की कुछ अति ही रही। अस्तु जो भी हुआ, अब उसे तो भूलना ही होगा। भविष्य मे पुनरावृत्ति न हो, एतदर्थ देव-शास्त्र-गुरु की शरण ही इसका एकमात्र उपाय है। अत सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को समझकर तदनुसार आचरण करने की कोशिश करना। सब ठीक हो जायेगा। घबराने की कोई बात नही है।"

मनमोहन ने नतमस्तक हो धर्मेश की बातो को शिरोधार्य किया और सदैव उसके सान्निध्य मे रहने का मन ही मन सकल्प कर लिया।

वही ज्ञानगोष्ठी मे बैठा एक वकील सोच रहा था - हम वकील लोगो ने सच्चाई को झुठला-झुठला कर अपने व्यवसाय को बदनाम तो किया ही, उसके जरिए बडे-बडे अपराधियो को उचित दण्ड दिलाने के बजाय उन्हे दण्ड मुक्त करा कर अपराध करने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। उनसे बडी-बडी फीस के सौदे करके, लाखो रुपए लेकर लखपति बनने के स्वप्न साकार करके मन ही मन खूब प्रसन्न भी हुए हैं। इस तरह मैं भी हिसा-झूठ-चोरी व्यभिचार और परिग्रह आदि सभी पापो को प्रोत्साहन देकर प्रसन्न हुआ हूँ। यह भी तो रौद्रध्यान है, जो नरक-निगोद का कारण है। अत: धर्मेशजी से इससे छुटकारा पाने का उपाय तो समझना ही है और जो भी बाते वे बताये, उन्हे भी दृढ सकल्प के साथ अपने जीवन मे उतारना है। सुखी होने का इसके सिवाय अन्य तो कोई उपाय ही नहीं है। सचमुच मैंने अपने जीवन का बहुभाग

यों ही धनसग्रह मे बर्बाद कर दिया। न केवल जीवन बर्बाद ही किया, उसका पापकार्यों मे दुरुपयोग भी किया है। ऐसा निश्चय करके उस वकील ने भी धर्मेश से निवेदन किया - "भाईजी ! आप इन पापों का प्रायश्चित बताये और इनसे बचने का उपाय भी बताये।"

सम्पत सेठ, मनमोहन एव अन्य सभी श्रोताओ का समवेत स्वर सुनाई दिया। हाँ, हाँ, गुरुजी ! हम सबकी भी लगभग यही स्थिति है।

वही बैठे एक नेताजी बोले - "हमारी ही क्या आज पूरा देश इसी स्थिति से गुजर रहा है, सभी इन्ही आर्त और रौद्रध्यानों मे ही आकठ निमग्न हैं। यह बात जुदी है कि लोगो को यह पता नहीं है कि ये भाव इतने खतरनाक हैं, नरक निगोद के कारण हैं। इसकारण सभी का यो ही जीवन व्यतीत हो रहा है। अब आप के सद्प्रयास से जब यह पता चल ही गया है तो अब इनसे बचने का मार्गदर्शन भी तो प्राप्त होना ही चाहिए।

अत अब कल से इन्हीं खोटे ध्यानो से बचने के उपायो पर विस्तार से समझाने की कृपा करिए। ताकि हम लोग इस ससार सागर का किनारा पा सके। जो भी आप बतायेगे, हम तो उससे लाभान्वित होंगे ही, हम उस बात को जन-जन तक पहुँचाने का भी पूरा-पूरा प्रयास करेंगे।"

लोगो की रुचि एव जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए धर्मेश ने सबको आश्वस्त किया - "भाई। जिनवाणी मे सब कुछ भरा पडा है, देखने की दृष्टि चाहिए तथा समझने के लिए थोडे समय और तीव्र रुचि की आवश्यकता है। मैं भी कोशिश करूँगा और आप लोग भी थोडा-थोडा प्रयास करिए, कठिन कुछ भी नहीं है। दिशा बदलते ही दशा भी बदल जाती है।

कल से धर्मध्यान के स्वरूप के आधार पर आप लोगो की जिज्ञासा को शमित करने की कोशिश करेंगे। आप लोगो को समझने का एवं हमे समझाने का भाव बन रहा है। इससे मालूम पड़ता है कि इस काम के सपन्न होने की काललब्धि आ गई है व होनहार भी भली लगती है। सभी ओर से पात्रता पकी है, अतः आप लोग निश्चिंत रहें।" - इस आश्वासन के साथ गोष्ठी समाप्त हो गई। •

२१

सूर्य चारो ओर अपनी लाली समेटता द्रुतगति से अस्ताचल की ओर बढ रहा था। गोधूली का समय, धूल उडाती गाये अपने बछडो की याद मे दौडी-दौडी घर की ओर बढ रहीं थी।

यही समय जिनेशचन्द्र शिक्षण सस्थानवासियो के घूमने-फिरने का होता था। सायकालीन भोजन से निवृत्त होकर अधिकाश भाई-बहिन भोजन करके अपने-अपने समूहो के साथ टहलने जाया करते थे।

सुनन्दा, सुनयना, विजया, अमित, मनमोहन और धर्मेश सेठ परस्पर परिचित और रिश्तेदार होने से शिक्षण सस्थान के विश्रान्तिगृह मे पास-पास ही ठहरे थे और साथ ही साथ प्रतिदिन घूमने-फिरने एक उपवन मे जाया करते थे। वहाँ आधा-पौन घण्टे शान्त व एकान्त वातावरण मे बैठकर धर्मेश के प्रवचन मे आये महत्त्वपूर्ण मुद्दो पर परस्पर चर्चा-वार्ता किया करते थे।

विगत दो दिनों से प्रवचनो मे आर्त-रौद्र ध्यान का स्वरूप एव उनके दुष्परिणामो की दर्दभरी चर्चा सुनकर उनके पाव तले की जमीन खिसकने लगी थी। उन सबकी आँखे तो आर्त हो ही रही थी, प्रत्येक का हृदय भी धडकने लगा था। सभी के मन बोझिल हो रहे थे।

अमित ने साहस करके मुँह खोला और बात प्रारम्भ करते हुए कहा - **"मनमोहन ! देखो, इन आर्त-रौद्र जैसे खोटे भावो मे हम लोग इस समय आकठ निमग्न हो रहे हैं, भविष्य मे इनसे बचने का उपाय और पिछले पापो से छुटकारा पाने की विधि तो खोजनी ही होगी, अन्यथा जब हाथ से बाजी निकल जायेगी, तब अन्त समय मे क्या होगा ?"**

इतना सुनते ही सुनन्दा का तो हाल ही बेहाल हो गया, सुनयना भी फूट-फूट कर रो पडी। माँ विजया किकर्त्तव्यविमूढ-सी चुपचाप बैठी सबका मुँह ताकती रही, क्योंकि सभी किसी-न-किसी रूप में इन खोटे ध्यानो मे आकंठ डूबे हुए थे।

सम्पत सेठ के मुँह से निकला - "अहो ! हमे तो इन बातो की खबर ही नही थी। हम तो प्राप्त पुण्यकर्म के फल मे ऐसे तन्मय हो गये थे कि मानो हमे स्वर्गो की निधिया मिल गई हो, पर ये तो हमे नरक मे पहुँचाने के साधन सिद्ध हो रहे है।

ये सपत्तियाँ तो चारो ओर से विपत्तियाँ बनकर हमारे माथो पर मधुमक्खियाँ-सी मडरा रहीं हैं, जो डक मार-मारकर सुजा-फुला देगीं, मरणासन्न कर दंगी।

धर्मेशजी के कहे अनुसार इनसे बचने का एकमात्र उपाय सम्यग्ज्ञान के सागर मे डूब जाना ही है, अन्यथा ये पीछा छोडनेवाली नहीं है।"

अमित ने भी सम्पत सेठ की हॉ मे हाँ मिलाई। सबने निश्चय किया - "आज तो धर्मेशजी से इन पाप भावो से बचने के उपायो पर ही प्रवचन करने का निवेदन करेगे।"

सम्पत सेठ ने धर्मेश से निवेदन किया - "गुरुजी ! आपने जो आर्त-रौद्र ध्यानों के बारे मे विस्तार से विवेचन किया, तदनुसार तो हमारा पूरा परिवार ही इन पाप भावो मे आकठ निमग्न हो रहा है। अमित, सुनन्दा एवं सुनयना तो दिन-रात आँसू ही बहाया करतीं हैं। हमे आप इस पापपंक से पार होने का उपाय शीघ्र बताइए।"

धर्मेश ने सोचा - वैसे तो क्रमानुसार आर्त-रौद्र के पश्चात् धर्मध्यान पर ही चर्चा करना अभीष्ट है, परतु उसके पूर्व अभी इष्ट-अनिष्ट के स्वरूप पर चर्चा करना अधिक उपयुक्त रहेगा। इससे सुनदा व सुनयना के मानस पर हुए कष्टो के हरे-भरे घावों पर थोड़ी-बहुत मरहमपट्टी तो हो ही जायेगी। धर्म-ध्यान की चर्चा कल के मध्याह्न के प्रवचन मे करेंगे।

ऐसा विचार कर धर्मेश ने कहा - "मूलत. कोई भी वस्तु या व्यक्ति अपने आप मे न इष्ट है न अनिष्ट है, क्योंकि जिनके अज्ञान व राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, उन अरहत व सिद्ध भगवन्तो के शब्द कोष मे इष्ट-अनिष्ट शब्द ही नहीं होते। इसी से सिद्ध है कि - ये 'इष्ट-अनिष्ट' शब्द मात्र अज्ञान व राग-द्वेष की ही उपज है। राग-द्वेष सापेक्ष ही इनका अस्तित्व है। ये मोह-राग-द्वेष के ही परिचायक हैं। मोह-राग-द्वेष के अभाव मे इनका भी अस्तित्व नही रहता।

इष्टानिष्ट कल्पना व मोह-राग-द्वेष का परस्पर ऐसा घना सबध है कि जहाँ मोह-राग-द्वेष होते हैं, वहाँ इष्टानिष्ट कल्पना होती ही है और जहाँ इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है, वहाँ मोह-राग-द्वेष भी होते ही हैं।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से जब परपदार्थ इष्ट व अनिष्ट भासित ही नहीं होते तो मुख्यत राग-द्वेष व कषाये उत्पन्न ही नही होती। अपना कर्त्तव्य तो केवल तत्त्वाभ्यास करना ही है। इसी के बल से आर्त-रौद्रध्यान का प्रभाव कम होते-होते क्रमश. अभाव होगा और धर्मध्यान का प्रारभ होगा। क्रमश शुक्लध्यान मे परिणत होकर आत्मा परमात्मा बन जायेगा।

एक बहुत बडे दार्शनिक ने लिखा है कि '**कषायभाव पदार्थो के इष्टानिष्ट मानने पर होते है और कोई पदार्थ इष्टानिष्ट है नही, अत· पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है। लोक मे सर्वपदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्त्ता है, कोई किसी को सुखदायक-दु खदायक, उपकारी-अनुपकारी है नही। यह जीव ही अपने परिणामो मे उन्हे सुखदायक-उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दु·खदायक अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है, क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है। जैसे वर्षा किसी को इष्ट लगती है किसी को अनिष्ट।** -

माली चाहे बरसना, धोबी चाहे धुप्प।
साहू चाहे बोलना, चोर चाहे चुप्प॥

एक व्यक्ति को भी एक ही पदार्थ किसी काल मे इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है तथा व्यक्ति जिसे मुख्य रूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है। जैसे शरीर इष्ट है, परतु रोगादि सहित हो तो अनिष्ट हो जाता है तथा जैसे मुख्य रूप से गाली अनिष्ट लगती है, परंतु ससुराल में इष्ट लगती है।

इसप्रकार पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता, वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता, वह सभी को अनिष्ट ही होता, परतु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हे इष्ट-अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है।'

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है।

देखो, भाई । दु:खी होने से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करने की एक विधि होती है। उसे अपनाना पडेगा।

आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है - प्रथम शास्त्र स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा का निश्चय करो कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है ? फिर पर की प्रसिद्धि की हेतुभूत जो इन्द्रिया है, उन पर से अपने उपयोग को हटा कर आत्मसम्मुख करने का प्रयास करो। एतदर्थ कर्त्ता-कर्म के भार से निर्भार होना होगा, अत. जैनदर्शन के मूल सिद्धान्त क्रमबद्धपर्याय, कारण-कार्य व्यवस्था, वस्तुस्वातत्र्य, कर्मसिद्धान्त में पुण्य-पाप मीमासा को समझे तो धीरे-धीरे सब काम ठीक हो जायेगा। शेष फिर ।''

प्रवचन का समय पूरा हुआ। जिनवाणी स्तुति के पश्चात् सभी लोग अपने-अपने आवास की ओर प्रस्थान करने लगे। •

३०

आर्त-रौद्र ध्यानो पर हुए धर्मेश के प्रेरणाप्रद प्रवचनो से जो वैराग्यवर्द्धक वातावरण बना, उससे सहज ही सबको समझ मे आ रहा था कि यह चर्चा कितनी आवश्यक थी, कितनी उपयोगी थी।

सभी श्रोता यह महसूस कर रहे थे कि धर्मेश द्वारा एकदम सही समय पर सही बात का बहुत ही सही ढग से प्रतिपादन हुआ है। मानो प्यासी धरती को, सूखती कृषि को सही समय पर मेघ वर्षा प्राप्त हो गई है।

बिना खाद-पानी दिए और बिना बीज बोए ही उगने एव बे-शुमार बढने वाली बेशरम (खरपतवार) की झाडियो की भॉति दु खद आर्त-रौद्र रूप पाप भावो की विषैली झाडियो से सभी परेशान थे। उन्हे जड-मूल से उखाडने और जलाकर भस्म करने हेतु धर्मध्यानाग्नि को प्रज्वलित करनेवाले तूफान की प्रतीक्षा सभी को थी, जो उन्हे धर्मश के रूप मे प्राप्त हो गया था।

अब सभी श्रोताओ की मानस भूमि धर्मध्यान का बीज बोने के योग्य बन चुकी थी। सभी लोग धर्मध्यान का स्वरूप और ध्यान करने की प्रक्रिया जानने के लिए आतुर थे, उत्सुक थे।

धर्मेश का प्रवचन प्रारभ हुआ। धर्मध्यान का सामान्य परिचय कराते हुये उन्होने कहा -

"धर्म वस्तुत. वीतरागभावरूप है, राग मे किचित् भी धर्म नहीं। अत धर्मध्यान के लिए सर्वप्रथम परम वीतरागी अरहत व सिद्ध भगवन्तो का एव वीतरागता की पोषक जिनवाणी का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। इनके अवलम्बन से ही जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त सर्वज्ञता, वस्तुस्वातत्र्य, छहद्रव्य, साततत्त्व, वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था, क्रमबद्धपर्याय लोक-

परलोक एव नरक-स्वर्गादि के अस्तित्व का ज्ञान होगा। इनके विषय में सच्ची श्रद्धा-ज्ञान बिना धर्मध्यान की बात ही नहीं बनती। एतदर्थ देव-शास्त्र-गुरु की और पचपरमेष्ठी की शरण मे आना अनिवार्य है। यही कारण है कि इनके ध्यान को ही व्यवहार धर्मध्यान कहा गया है।

जब भी धर्मध्यान करने की बात आती है तो प्राय: हमारा ध्यान किसी क्रिया विशेष की ओर ही जाता है। इसके साधन के रूप मे आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और स्थानविशेष की ओर ही हमारा ध्यान जाता है। पर ये सब धर्मध्यान के मूलभूत साधन नहीं है। क्योकि इनसे आत्मलाभ नही होता।

जिसने आजतक कभी आत्मा-परमात्मा को देखा-जाना ही न हो, वह आत्मा-परमात्मा को कैसे याद करे ? कैसे स्मरण करे ? स्मरण तो दर्शनपूर्वक ही होता है न ? जिसे कभी देखा ही न हो, उसका स्मरण कैसे आ सकता है ?

अत धर्मध्यान के पहले आत्मा का ज्ञान एव स्व-पर भेदविज्ञान अनिवार्य है। ध्यान-ध्याता-ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक कार्य के जो अपने-अपने स्वतत्र षट्कारक है, उन षट्कारको की स्वतत्रता की सही जानकारी जरूरी है, क्योकि इनके बिना अज्ञानी जीवो को जबतक पर के कर्तृत्त्व का बोझ बना रहेगा, तबतक अन्तर मे प्रवेश नही होगा।

वस्तुत ध्यान किया नही जाता, वह तो हो जाता है। ध्यान तो ऐसी सहज क्रिया है, जो स्वत ही सम्पन्न होती है। जिसप्रकार आर्त-रौद्र ध्यान कोई सोच-सोच कर नही करता, जब पर मे इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है तो इष्टवियोगज-अनिष्टसयोगज आर्तध्यान स्वत· ही सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते होते ही रहते हैं, उसीतरह जैनदर्शन के सिद्धान्तो की श्रद्धा हो जाने से, स्व-पर भेदज्ञान हो जाने से, अनुप्रेक्षा आदि के चिंतन द्वारा ज्ञान-वैराग्य शक्ति प्रगट हो जाने से धर्मध्यान भी स्वत: होने लगता है। प्रयत्न भी सहज उसी दिशा मे होने लगते हैं, निमित्त भी सब तदनुकूल मिल ही जाते है, निमित्तो को खोजना नहीं पडता।

लोक भाषा मे 'ध्यान' शब्द का प्रयोग अनेक तरह से होता है, पर उसका अर्थ लगभग सब जगह एक जैसा ही होता है। जैसाकि - 'कृपया ध्यान दीजिए', 'ध्यान रहे, आपको समय पर पधारना है', 'यह बात ध्यान देने योग्य है' आदि।

अध्यात्म की भाषा एव परिभाषाओ मे यह 'ध्यान' शब्द विभिन्न विशेषणो के साथ विभिन्न अर्थो मे भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एव शुक्लध्यान आदि। पर जहाँ अकेला 'ध्यान' शब्द आया है, वहाँ इसका अर्थ लगभग सब जगह धर्मध्यान ही किया है।

व्यवहार की भाषा मे मिथ्यादृष्टि की धार्मिक क्रियाओ और शुभभावो को देख उन्हे भी धर्मात्मा, धर्म-ध्यानी एव ज्ञानी-ध्यानी कह दिया जाता है, परतु वस्तुत सम्यग्दृष्टियो को ही धर्मध्यान होता है, मिथ्यादृष्टियो को नहीं।

देखो, लोक मे जिस तरह 'गो' शब्द के अनेक अर्थ है, पर वह गाय के अर्थ मे ही रूढ है, प्रचलित है। 'पूजा' शब्द बहुत व्यपाक है, भगवान को हाथ जोडकर नमस्कार करना, साष्टाग प्रणाम करना, प्रदक्षिणा देना, स्तुति बोलना, सूखा अर्घ चढाना आदि उक्त सभी क्रियाये पूजा है, परतु लोक मे पूजा उस क्रिया विशेष को ही माना जाता है, जिसमे स्नान कर, धुले वस्त्र पहनकर, धुले हुए अष्टद्रव्य से जो पूजा की जाती है। उसी अर्थ मे 'पूजा' शब्द रूढ हो गया है। इस कारण लोक मे उसे ही पूजा करना कहते हैं। अन्य नमस्कार आदि क्रियाओ को पूजा नही माना जाता, जबकि ये सब क्रियाये भी पूजा ही हैं।

'पुजारी' शब्द सवैतनिक कर्मचारी के अर्थ मे रूढ हो गया है। किसी नियमित पूजा करनेवाले सेठ को यदि भूलकर भी 'पुजारी' कह दिया तो महाभारत मच जायेगा, जबकि वह सेठ ही वास्तविक पुजारी है।

इसीप्रकार 'ध्यान' शब्द भी धर्मध्यान के अर्थ मे रूढ़ है, प्रचलित है। जिनवाणी में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। अत: ध्यान का विषय वस्तुत: ध्यान देने योग्य है, ध्यान से समझने योग्य है।

आर्त-रौद्रभाव भी तो ध्यान ही हैं, पर जिसप्रकार ध्यान के साथ आर्त-रौद्र विशेषण लगाये जाते हैं, वैसे व्यवहार भाषा मे धर्मध्यान के साथ सभी जगह 'धर्म' विशेषण नहीं लगाया जाता। ज्ञानार्णव ग्रन्थ के अनेक श्लोक इसके साक्षी हैं।

अत· जहाँ जिस अपेक्षा 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ हो, उसका वैसा ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। धर्मध्यान पर आवश्यकतानुसार बल देते हुए आचार्य योगीन्द्रदेव 'ध्यान' शब्द का उपयोग करते हुए कहते हैं -

ससार के क्लेशो का नाश करने के लिए ज्ञानरूपी अमृत का पान करो। तथा जन्म-मरण रूप ससार सागर से पार होने के लिए ध्यानरूपी जहाज का अवलम्बन करो।[१]

इसी ज्ञानार्णव के और भी अनेक श्लोको द्वारा आचार्यदेव ने 'ध्यान' अर्थात् धर्मध्यान करने की प्रेरणा दी है। उन सब मे भी केवल 'ध्यान' शब्द का ही प्रयोग किया है, जो मूलत· पठनीय है।

जिनवाणी मे धर्मध्यान की विस्तृत चर्चा है, जिसे जानना जरूरी है। आज तो धर्मध्यान से सबधित कुछ सामान्य बातो पर ही चर्चा की। कल इस धर्मध्यान के स्वरूप, भेद-प्रभेद, धर्मध्यान करने की विधि और उसके फल पर विचार करेगे, जो आर्तध्यान-रौद्रध्यान से बचने मे हमें सहायक होगा।"

आज की इस चर्चा से भी श्रोताओ को बहुत-सी नवीन जानकारी मिली। अत सभी लोग प्रसन्न थे। शेष जानकारी कल मिलेगी, इस आशय से श्रोता अभी से कल की प्रतीक्षा करने लगे। •

---

१ "भव क्लेश विनाशाय पिब ज्ञान सुधाकरम् ।
कुरू जन्माब्धि मत्येतु, ध्यान पोतावलम्बनम् ॥" (१२) (सर्ग ३)

३१

सुहावना मौसम था, ठडी-ठडी बयार बह रही थी, चिडियाँ चहकने-फुदकने लगीं थी, मुर्गे बाग भर-भर कर सबेरा होने का सदेश सुना रहे थे। मानो जगत के जीवो को जगाने का उत्तरदायित्व प्रकृति द्वारा इन्ही को सौंपा गया हो। कृत्रिम घडियों के अलार्म धोखा दे सकते हैं, बजें न बजे, पर मुर्गे समय पर बाग देने से नही चूकते। मानव चाहे तो मुर्गो से स्वय समय पर जगने और दूसरो को मोहनीद से जगाने का सबक सीख सकता है।

आजकल नैसर्गिक नियमो के पालन करने मे सचमुच मानव पशुओ से पीछे होता जा रहा है। पशु-पक्षी कभी भी अपने प्राकृतिक नियमो का लोप नही करते और आज का युवक अपने खान-पान और सोने-जागने मे प्राकृतिक नियमो का बिल्कुल भी पालन नही करता।

मुर्गों की 'कुकडू कूँ कुकडू कूँ ' सुनकर जो जाग गये, उनमे कुछ ज्ञान-पिपासु तो स्वाध्याय भवन मे बज रहे प्रवचन कैसिट सुनने चल पडे। ध्यानप्रेमी धर्मात्मा हाथ-पाँव धोकर एकान्त मे चटाई बिछाकर ध्यान करने बैठ गये तथा स्वास्थ्यप्रेमी सज्जन प्रात कालीन प्राणवायु का सेवन करने बाग-बगीचो की ओर निकल पडे, पर प्रमादी प्राणी अभी भी प्रमाद मे पडे-पडे करवटे बदल रहे थे और प्रात कालीन मीठी-मीठी नींद को भग करने वाले कलरव को मन ही मन कोस रहे थे।

श्वास रोग से पीडित एक वयोवृद्ध व्यक्ति बेचारा ऐसा भी था, जिसे वैद्यो की राय के अनुसार प्रात कालीन प्राणवायु का सेवन भी अनिवार्य था और वह धर्मलाभ से भी वचित नहीं रहना चाहता था। अत: उसने एक मध्यम मार्ग निकाल लिया था।

वह वृद्ध व्यक्ति जिनेशचन्द शिक्षा सस्थान के पास वाले छोटे से पार्क मे ही चहल-कदमी करता हुआ वैराग्यभावना और बारह भावना आदि का पाठ करके आत्मसंतुष्टि कर लिया करता।

बोलते-बोलते भावावेश मे उसकी आवाज ऊँची हो जाती -

कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट सयोगी ।
कोई दीन दरिद्री विगूचै, कोई तन का रोगी ॥
किस ही घर कलहारी नारी, कै वैरी सम भाई ।
किस ही के दु:ख बाहर दीखे, किस ही उर दुचताई ॥
कोई पुत्र बिना नित झूरे, कोई मरै तब रोवै ।
खोटी सतति सो दु ख उपजै, क्यों प्राणी सुख सौवै ॥
पुण्य उदय जिनके तिनके भी नाहिं सदा सुख-साता ।
यह जगवास जथारथ देखे, सब ही है दु ख दाता ॥

ससार के स्वरूप का यथार्थ चित्रण करने वाली इन पक्तियो को बोलते हुए वह स्वय भी भावुक हो उठता और जोर-जोर से बोलने के कारण आस-पास के मकानो के लोग खिडकियाँ खोल-खोल कर उधर झाँकने लगते, जहाँ वह वृद्ध व्यक्ति पार्क मे भावुक मन से गा रहा होता। उसे देखने-सुनने वालो की आँखे भी आसुओ से गीली हो जाती।

सस्थान के पास बने निजी बगले मे ठहरे सम्पत सेठ और उसके साथी अमित, सुनन्दा, सुनयना आदि ने भी वे वैराग्य भावना के बोल सुने तो उनके स्मृति-पटल पर वे शब्द चित्र सजीव होकर उभरने लगे। और उनके जीवन मे घटित घटनाओ के प्रतिबिम्ब भी उनकी ध्यान-धरा पर उतर आये

वृद्ध गाये जा रहा था -

भोग बुरे भवरोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जी के ।
बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागें नीके ॥
बज्र अगनि विष से विषधर से, ये अधिके दु:खदाई ।
धर्मरत्न के चोर प्रबल अति, दुर्गति पन्थ सहाई ॥ ...

इसी बीच फिर 'कुकड़ू कूँ . कूँ ' की आवाज आई, मानो मुर्गे सोने वालों से कह रहे थे -

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है ,
जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है।
उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।।

विराग उठा और तैयार होकर कैसिट सुनने चला गया। स्वय को अपने अग्रज विराग से अधिक धरम-ध्यानी मानने वाले अनुराग ने हाथ-पैर धोये और चटाई एव माला लेकर मकान की छत पर एकान्त मे ध्यान करने चला गया।

विराग चाहता था कि अनुराग ने जब मेरे आग्रह को मानकर जैसे-तैसे पन्द्रह दिन का समय अपने व्यस्त जीवन मे से यहाँ आने के लिए निकाला ही है तो क्यो न अधिकतम ज्ञानार्जन कर ले। कम से कम जैनदर्शन के उन मूलभूत सिद्धान्तो को तो सुन ही ले, समझ ही ले, जो उसके धर्माचरण मे साधक है। यदि यहाँ भी उसका सर्वाधिक समय उन्हीं धार्मिक क्रियाओ मे चला गया, जो उसने किसी न किसी लौकिक प्रयोजनो को पूरा करने के चक्कर मे अपने माथे ले रखी हैं तो उसका यहाँ आना न आने जैसा ही रहेगा। यहाँ आने का उसे कोई लाभ नहीं होगा।

एक दिन विराग ने मौका देखकर बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से अनुराग से कहा - "अनुराग ! एक तुम हो, जो एक-एक घटे तक ध्यान मे बैठे रहते हो और एक मैं हूँ, जिसका पाँच मिनट मे ही ध्यान से मन ऊब जाता है। मैं थोडी भी देर तक बैठने की कोशिश करूँ तो उबकाई-सी आने लगतीं हैं, जी मिचलाने लगता है, घबराहट-सी होने लगती है। मेरी समझ मे नहीं आता कि 'मैं ध्यान कैसे करूँ ?' क्या तुम बताओगे कि ध्यान के समय तुम क्या करते हो, किसका ध्यान करते हो ?"

अनुराग ने सोचा - विराग भाईसाहब वर्षों से नियमित स्वाध्याय करते हैं, फिर भी मुझे अपने अन्दर की कमजोरी बताकर मुझसे यह पूछ रहे हैं। अत:

उनकी इस बात में कुछ न कुछ रहस्य अवश्य होना ही चाहिए। वे अपने मन को कहाँ लगाना चाहते है? और जहाँ वे अपना मन लगाना चाहते है, वहाँ क्यो नहीं लगता ? अस्तु। जो भी हो, उनकी वे जाने। उन्होंने जो जानना चाहा है, वह बताना मेरा कर्तव्य है - यह सोचकर विराग ने कहा -

"भाईसाहब । मैं तो सर्वप्रथम १०८ बार णमोकार मत्र का जाप करता हूँ, किसी और चक्कर मे न पड़कर फिर पण्डितजी के बताये अनुसार महावीर चालीसा, पदमप्रभ चालीसा, पार्श्वनाथ स्तोत्र और भक्तामरजी का पाठ करता हूँ। बस इसी मे पौन घटा पूरा हो जाता है। जब और कुछ सोचने का समय ही नही रहता तो ऊबने का तो सवाल ही कहाँ है ?

विराग ने पूछा - "उन पण्डितजी का क्या नाम है ? कौन हैं, कहाँ के है वे, जिन्होने तुझे यह सब विधि बताई ?"

अनुराग ने कहा - "आप शायद उन्हे नही जानते होंगे, पर जिन पण्डितजी ने यह बताया वे बडे पहुँचे हुए लोगो मे से हैं। उनके बारे मे लोग न जाने क्या-क्या कह रहे थे ? उन्होने तो पद्मावती स्तोत्र, मानभ्रद स्तोत्र आदि और भी बहुत कुछ बताये थे, लम्बी-चौडी विधि भी बताई थी, पर मैंने उनसे कह दिया कि - ये सब हमारे कुलधर्म के हिसाब से नहीं चलेगा। हमारे शुद्ध आम्नाय मे यह नही चलता। तो फिर उन्होने मेरी बात मान ली और कहा कि - आप अपनी आम्नाय के अनुसार जितना जो चले, वैसा ही करो। बडे सज्जन व्यक्ति थे वे, अधिक आग्रह नही करते किसी बात का। जैसा जिसको अनुकूल होता, वैसा ही उपाय बता देते है।

उनका कहना था कि - यदि हमारी बताई हुई विधि विधिपूर्वक करो तो उसका विशेष फल है। वैसे भी ये स्तोत्र रिद्धि-सिद्धि दाता तो हैं ही, विघ्न निवारक भी है। अत: जितना भी सभव हो, अवश्य करते रहना। परलोक की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए, परलोक भी जितना सुधरना होगा, सुधर ही जायेगा; पर इस जन्म मे जरूर कोई बड़ा सकट आप पर नहीं आयेगा। सकटमोचन भी हैं न ये सब।

उन पण्डितजी मे लोभ तो नाममात्र को भी नही है, मुँह से तो वे किसी से कुछ माँगते ही नही। श्रद्धालु अपनी मर्जी से जो दे दे, वही सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। वे खुद ही बता रहे थे कि एक सेठ ने तो उन्हे बिना मागे ही पाँच सोने के सिक्के दिए, क्योकि पण्डितजी की बताई विधि से पद्मावती का जाप और पार्श्वनाथ स्तोत्र का पाठ करने से उन्हे व्यापार मे बहुत लाभ हुआ था। और वे यह भी कह रहे थे कि लोग जब अपने आप ही भरपूर देते है तो हम किसी से क्यो माँगे, अधिक लोभ-लालच मे क्यो पडे?''

अनुराग की ये बाते सुनकर विराग ने अपना माथा ठोक लिया। उस समय कहा तो कुछ नही, कहने लायक कुछ था भी नही, पर विराग ने यह निश्चय कर लिया कि किसी तरह इस चक्कर से तो इसे निकालना ही पडेगा, अन्यथा इसका सारा समय इसी चक्कर मे यो ही गृहीत मिथ्यात्व और अप्रशस्तध्यान मे चला जायेगा।

घडियो की सुइयाँ अपनी गति से आगे बढी जा रही थीं। देखते ही देखते साढे सात बज गये। आश्रम के प्रागण मे चहल-पहल प्रारम्भ हो गई। आठ बजे से प्रवचन प्रारभ होने वाला था और प्रवचन मे देर से पहुँचने वालों को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था, इस कारण देर से जागने वालो मे हडबडी मच गई।

पूजन मे भले कोई पहुँचे न पहुँचे या देर से पहुँचे, परमात्मा तो किसी से कुछ कहने वाले है नही, वीतरागी जो ठहरे, पर प्रवचन मे समय पर न पहुँचने का अर्थ है सैकडो श्रोताओ की नजरो से गिर जाना और प्रवचन की विषयवस्तु से भी वचित रह जाना।

धर्मेशजी मुँह से भले कुछ न बोले, पर इतना तो उनकी समझ मे भी आ ही जाता कि कौन व्यक्ति तत्त्वज्ञान के प्रति कितना सजग है अथवा कितना लापरवाह है, प्रमादी है।

प्रमादियों को प्रमादी रहने मे आपत्ति नहीं होती, पर प्रमादी कहलाना उन्हे भी पसन्द नहीं था। अत: प्रमादी से प्रमादी व्यक्ति भी पाँच मिनट पहले ही प्रवचन मडप मे उपस्थित हो जाते।

प्रवचन प्रारम्भ करते हुए धर्मेश ने कहा – "भाई ! धरमध्यान का विवेचन करें, उससे पहले हम यह बता देना चाहते हैं कि 'ध्यान' ज्ञान बिना नहीं होता। जिसका ज्ञान ही नहीं, उसका ध्यान कैसे संभव है ? हम आप से कहे कि आप अपने उन स्वर्गीय दादाजी का ध्यान करो जो आपके जन्म से पहले ही स्वर्गवासी हो गये थे। वे कैसे थे ? गोरे या काले ? लम्बे थे या ठिगने ? दुबले थे या मोटे ? टोपी लगाते थे या पगडी बाधते थे ? मूँछ रखते थे या नहीं ? वे हसमुख थे या गभीर ?

निश्चित ही आपका यही उत्तर होगा – जब हमने उन्हे देखा ही नहीं तो स्मरण किसका करे ? वे हमारे ज्ञान मे कभी आये ही नहीं तो ध्यान मे कैसे आ सकते हैं ?

अरे भाई ! जिसतरह दर्शन बिना स्मरण नही होता, ठीक इसी तरह आत्मा के ज्ञान बिना आत्मा का ध्यान भी नहीं हो सकता। अत: आत्मा का ध्यान करने के पहले आत्मा का ज्ञान आवश्यक है। आत्मा हमारे ध्यान मे आये, इसके लिए उसे पहले अपने ज्ञान मे आना ही होगा, उसे जानना-पहचानना ही होगा।

जिसप्रकार यह कहा जाता है कि **आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान** उसीप्रकार **मात्र आत्मा का ध्यान ही निश्चय से धर्मध्यान है, शेष सभी अपध्यान** ! अपध्यानो को धर्मध्यान कहना ध्यान का अवमूल्यन करना है। इसीलिए तो आगम मे कदम-कदम पर यह कहा है कि – **सम्यग्दृष्टियो को ही धर्मध्यान होता है। चतुर्थ गुणस्थान के पहले धर्मध्यान होता ही नहीं है।**

जो लोग सुबह-शाम सामायिक के काल मे ध्यान के नाम पर मत्रो का जाप और स्तोत्रो का पाठ किया करते हैं, उन्हे समझना चाहिए कि वस्तुत: वह धर्मध्यान नहीं है, सचमुच तो वह सामायिक भी नहीं है, क्योंकि सामायिक में भी आत्मध्यान की ही मुख्यता होती है। अथवा छह द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन-मनन होता है; क्योंकि 'समय' शब्द के दो ही अर्थ हैं – एक शुद्धात्मा और दूसरे छहों द्रव्य। जब छह द्रव्यों के स्वरूप का विचार चलेगा तो वस्तु-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त स्वत: ही फलित होगा और वह समता भाव होने में कारण बनेगा, जो कि सामायिक का सही फल है।

सचमुच धर्मध्यान के सम्बन्ध मे बहुत गडबड़ी है, अत· सर्वप्रथम आगम के परिप्रेक्ष्य मे इस पर गभीरता से विचार होना चाहिए।

देखो, ध्यान के चार भेदो मे अबतक जो आर्त-रौद्रध्यान की चर्चा हुई, धर्मध्यान उससे भिन्न ही होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि जिसमे इष्ट-अनिष्ट कल्पना हो, वह धर्मध्यान नही हो सकता। जिसके चिन्तन से रोना आये, मानसिक पीडा हो, दु ख हो, जिसमे आँसू आये, वह भी धर्मध्यान नहीं हो सकता, क्योकि ऐसा चिन्तन या विचार आर्तध्यान की कोटि मे ही आता है। ध्यान रहे, आर्तध्यान प्रशस्त भी होता है, पर होता दु·खरूप ही है। इसका स्पष्टीकरण भी आर्तध्यान के प्रवचन मे आ ही चुका है।

रौद्रध्यान और धर्मध्यान - दोनो आनद रूप है, पर मे मौलिक अन्तर यह है कि रौद्रध्यानी पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे आनन्दित होता है। उसे पाँचो पापो की प्रवृत्ति मे आनन्द आता है। वह विकथा मे रमता है और धर्मध्यानी को मात्र आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द मे सुखानुभूति होती है। उसे धर्मकथा, वीतरागी वार्ता ही सुखद लगती है। यद्यपि दोनो आनन्द रूप हैं। पर दोनो के आनन्द मे जमीन-आसमान का अन्तर है। एक कोरा सुखाभास है और दूसरा सचमुच सुखस्वरूप है।

धर्मध्यान की व्याख्या करते हुए आचार्यो ने जो भी कहा है, उस सबका सक्षिप्त सार यह है कि **धर्म से युक्त ध्यान ही धर्मध्यान है।**

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि धर्म का पेटा तो बहुत बडा है, आप किस धर्म से युक्त ध्यान को धर्मध्यान बताना चाहते हैं ?

यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है, सचमुच धर्म का पेटा बहुत बडा है, पर भाई । यहाँ तो 'बत्थु सहावोधम्मो' एव 'चारित्र खलु धम्मो' वाली धर्म की व्याख्या ही प्रासगिक है। **वस्तु का स्वभाव अर्थात् छह द्रव्यो के स्वभाव को जानकर-पहचानकर तथा इनमें स्व-पर भेदविज्ञान करके अपने आत्मा के स्वरूप में एकाग्रता करना निश्चय धर्मध्यान है और जिनोपदिष्ट वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों का अभ्यास करना, उनके आश्रय से आत्मा**

में एकाग्र होने का अभ्यास करना तथा इन सिद्धान्तों के साधक, आराधक प्रतिपादक एवं पंचपरमेष्ठी (देव-शास्त्र-गुरु) की भक्ति द्वारा अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करने का प्रयत्न करना व्यवहार धर्मध्यान है।

जिस ज्ञान से आत्मा के धर्म का, आत्मा के स्वभाव का परिज्ञान होता है, आत्मा मे उसी ज्ञान की एकाग्रता, स्थिरता का अभ्यास धर्मध्यान का लक्षण है।

वीतरागभाव से, साम्यभाव से रहने का अभ्यास करने के लिए साधक जो चारो अनुयोगो का अभ्यास करता है, वह भी व्यवहार से धर्मध्यान ही है।

इष्टानिष्ट बुद्धि का मूलभूत कारण मोह ही है, मोह-राग-द्वेष के कारण ही चित्तवृत्ति चचल रहती है। उसके छेद हो जाने पर चित्त मे स्थिरता होना स्वाभाविक ही है, बस वह **चित्त की स्थिरता ही धर्मध्यान है।**

आचार्य कहते हैं कि - निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो मोह-राग-द्वेष मत करो।

सम्यग्दृष्टि जीवो का शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्व चिन्तन एव सयमादि मे चित्त का लगाना भी धर्मध्यान की श्रेणी मे ही आता है और तत्त्वज्ञान शून्य अज्ञानी का आँखे बन्द करके घटो बैठे रहना तथा स्तोत्र पढना एव मत्रादि का जपना भी धर्मध्यान की कोटि मे नहीं आता, क्योकि सर्वज्ञ देव ने कहा है कि - बिना तत्त्वज्ञान के धर्मध्यान होता ही नहीं है। अत: धर्मध्यान के प्रेमियो को पहले तत्त्वज्ञान अनिवार्य है, भेदविज्ञान अत्यावश्यक है।''

यह सुनकर अनुराग चौंका। उसे ऐसा लगा - अरे ! यह तो मेरा ही कच्चा चिट्ठा खुल रहा है। मैं तो अपने ध्यान का पूरा समय इसी तरह बिताता हूँ। अरे ! ऐसा करके मैं कहीं खुद को ही तो नहीं ठग रहा हूँ। उन पण्डितजी ने तो यह कुछ बताया ही नहीं। तत्त्व की बातों की तो उन्होंने चर्चा ही नहीं की।

धर्मेश का प्रवचन चालू था। उन्होंने आगे कहा - ''यद्यपि आचार्यों ने हमें धर्मध्यान करने की कदम-कदम पर प्रेरणा दी है; पर यहाँ विचारणीय यह है

कि क्या सम्यग्दर्शन के बिना धर्मध्यान सभव है ? नहीं, कदापि नहीं, तो फिर धर्मध्यान की प्रेरणा देने का अर्थ तो यह हुआ कि - जिस विधि से धर्मध्यान सभव हो, वह सब करो। यदि भेदविज्ञान पूर्वक होता है तो पहले भेदविज्ञान करो।

मान लो, हिन्दू पुराण मे लिखा है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' पुत्र के बिना मानव का उद्धार नही होता। अत. कम से कम एक पुत्र तो प्रत्येक के होना ही चाहिए। अब आप सोचिए कि कुवारा व्यक्ति पुत्र प्राप्ति के लिए सबसे पहले क्या करे ? पहले शादी ही करेगा न ? पुत्र वृक्षो मे तो फलेगे नही।

इसी तरह धर्मध्यान रूप पुत्र प्राप्त करना हो तो सबसे पहले सम्यग्दर्शन करना होगा, आत्मज्ञान करना होगा, क्योकि जिस तरह शादी बिना पुत्र सभव नहीं, उसी तरह सम्यग्दर्शन या आत्मज्ञान श्रद्धान बिना धर्मध्यान नही होता ''

एक श्रोता ने पूछ ही लिया - ''गुरुजी । इस युग मे सम्यग्दर्शन तो विरलो को ही होता है, फिर धर्मध्यान के लिए ऐसा प्रतिबन्ध क्यो लगाया कि **धर्मध्यान सम्यग्दृष्टियो को ही होता है ?''**

धर्मेश ने मुस्कुराते हुए कहा - ''भाई । यह प्रश्न ही हास्यास्पद है। ऐसा प्रश्न करने वालो को मूलतः धर्मध्यान के स्वरूप की ही खबर नही है।

अरे भाई । जिस आत्मतत्त्व को जानने और प्रतीति मे आने का नाम सम्यग्दर्शन है, उसी मे जमने-रमने व उसी रूप परिणमन करने का नाम धर्मध्यान है। जिसे सम्यग्दर्शन कठिन लगता है, उसे ध्यान सरलता से कैसे हो जायेगा ?

धर्मध्यान तो सम्यग्दर्शन एव भेदज्ञान रूपी बीज का फल है। जब बीज ही नही होगा तो धर्म का वृक्ष कहाँ से उगेगा ? और वृक्ष के बिना धर्मध्यान के फल कहाँ फलेंगे?

जिसे आत्मा की पहचान हो जाती है, आत्मानुभूति हो जाती है, जिसने एक बार अतीन्द्रिय आनन्द का रस चख लिया हो, उसे बारम्बार उसका स्वाद लिए बिना चैन ही नहीं पड़ती। कहा भी है -

जब आतम अनुभव आवे, तब और कछु न सुहावै।
गोष्ठी कथा कौतूहल विघटै, पुद्गलप्रीति नसावै॥

जिसकी जिससे लगन लग जाती है, प्रीति हो जाती है, उसे उसका ध्यान हुए बिना नहीं रह सकता। लडकी के प्रेम मे समर्पित सेठ के लड़के के अनुभूत उदाहरण से यह बात सुगमता से समझी जा सकती है।"

धर्मेश ने उदाहरण देते हुये कहा -

"एक सेठ के लडके का पडौस की लडकी से प्यार हो गया। लड़की अच्छी थी, सस्कारसम्पन्न थी, इस कारण पसन्द तो सेठ को भी थी, पर उसकी चिन्ता का विषय यह था कि एक तो बेटा पढने मे वैसे ही लापरवाह है, ऊपर से यह प्यार का चक्कर। आखिर किया क्या जाये ?

सोचते-सोचते सेठ को एक उपाय सूझा, उसने बेटे को बुलाया। और त्यौरियाँ बदलते हुए कहा - "बहुत हो गया, अब ये सब नही चलेगा, अपना यह प्रेम का नाटक बन्द करो।"

बेटा घबराया, नीची आँखे हो गई, पैर के अँगूठे से जमीन खोदता खडा रहा।

पिता ने गभीर होकर प्यार से कहा - "बेटा घबराओ नही, लडकी तो हमे भी पसन्द है, पर "

"पर क्या ?" पुत्र ने सशक होकर पूछा।

सहज भाव से पिता ने उत्तर दिया - "बात तो कोई खास नहीं, पर एक छोटी-सी शर्त है।"

"शर्त। कैसी शर्त ? काहे की शर्त ?" पुत्र पुनः शकित हो उठा।

"बेटा। घबराओ नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है, जिसे मानने मे तुम्हें कोई परेशानी हो।" - यह कहकर पिता ने आश्वस्त किया।

आशा-निराशा के झूले में झूलता बेटा बोला - "पापा। आप कैसी बातें करते हैं। क्या आज तक मैंने आपकी कोई बात टाली है ? बताइये कब कौनसी बात नहीं मानी ? जो आप आज ऐसी शर्त रख रहे हैं। बताइये तो सही, आखिर आप चाहते क्या हैं ? लड़की तो आपको भी पसन्द है न ?"

"हाँ, हाँ, कह दिया न! लड़की हमें भी पसंद है।"

"बस तो अब कहिये आप क्या कहना चाहते हैं ? यदि आपको लड़की पसन्द है तो फिर मुझे भी आपकी सब शर्तें मंजूर हैं।"

"तो सुना। आज से तू परीक्षा तक लड़की से मिलेगा-जुलेगा नहीं"

"ठीक है पापा ! नहीं मिलूँगा, बिल्कुल नही मिलूँगा।"

"दूसरी बात यह है कि चिट्ठी-पत्री और टेलीफोन भी नही करेगा।"

"यह भी ठीक है, नही करूँगा ! बस "

"इतना ही बस नही, तीसरी और अन्तिम बात यह भी कान खोलकर सुन ले। जबतक शादी नहीं हो जाती तबतक तू उसके बारे मे सोचोगा भी नही, वह तेरे ध्यान मे भी नही आनी चाहिए, स्वप्नो मे भी नहीं आनी चाहिए । समझे ।"

बेटा गभीर होकर बोला - "पापा। आप यह क्या कह रहे है ? यह कहने के पहले कुछ सोचा भी है आपने ? माफ करना पापा । यह नही हो सकता, कदापि नही हो सकता। मन मे आने से मैं उसे कैसे रोक सकता हूँ ?

पुत्र का रुख बदला देख पिता की समझ मे सब कुछ आ गया कि जिससे परिचय और प्रीति हो गई हो वह ध्यान मे आये बिना नही रह सकता। अब कुछ भी कहना व्यर्थ है, यह सोचकर पिता चुप हो गये।"

धर्मेश ने कहा - "अरे भाई । जिसकी जिससे प्रीति हो जाती है, वह उसके ध्यान मे आये बिना कैसे रह सकता है ? शारीरिक सम्बन्ध पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है, वाणी पर लगाम लग सकती है, पर मन मे आने से, ध्यान मे आने से कोई किसी को कैसे रोक सकता है ? जो ज्ञान मे आ गया, घनिष्ठ परिचय मे आ गया, वह ध्यान मे तो आयेगा ही।

अत: ध्यान करने/कराने की चिन्ता को छोड़कर पहले आत्मा का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान करने का पुरुषार्थ करो। आत्मा का परिचय करो, उससे प्रीति करो; फिर आत्मा की प्राप्ति भी हुये बिना नही रहेगी।" •

३२

एक दिन वह था, जब अमित साधारण सी शारीरिक पीडा को इतना अधिक तूल दे देता था, जिससे सारा घर परेशान हो जाता था। माथे में, पेट मे, पीठ में, कहीं भी जरासी भी पीडा क्यो न हो जाये, हाथ-पैर-कमर आदि शरीर के किसी भी अग मे किसी भी प्रकार का किंचित् भी कष्ट क्यो न हो जाये ? वह जमीन-आसमान एक कर देता था।

चीख-चीख कर कभी कहता – मैं सिर दर्द के कारण मरा जा रहा हूँ। कभी कहता – पेट दर्द से मेरा बुरा हाल हो रहा है। कभी कहता – सांस लेने मे मेरे प्राण से निकलते हैं, क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आता, तुम्हें कैसे बताऊँ कि मुझे कितना भारी दर्द है। सारा शरीर ऐसा भनभना रहा है, मानो सौ-सौ बिच्छुओ ने एक साथ काट लिया हो।

यद्यपि आज तक उसे कभी एक भी बिच्छू ने नहीं काटा था, जिससे सौ-सौ बिच्छुओ के काटने के दर्द की तुलना करता, पर अपने दर्द को बढ़ा-चढ़ा कर बताने का उसके पास अन्य कोई उपाय भी तो नही था।

यद्यपि उसे कष्ट उतना भयकर नहीं होता था, जितना वह वाणी में व्यक्त किया करता था, परंतु वह छल से भी ऐसा नहीं करता था। अपने कष्ट को जैसा वह बढ़ा-चढ़ा कर वाणी में व्यक्त करता, मानवीय मनोविज्ञान के मुताबिक उसे धीरे-धीरे मन में अनुभव भी वैसा ही होने लगता था।

वह कहता – "मुझसे दर्द सहा नहीं जा रहा है। जो भी उपाय करना हो, जल्दी करो। रामू कहाँ मर गया ? उससे कहो वैद्य को जल्दी बुलाकर लाये, डॉक्टरों को भी फटाफट फोन कर दो, मन्त्र-तन्त्र वाले पण्डित को भी खबर तो कर ही दो, झाड़ने-फूँकने वाले को भी बुला ही लो। सबको अपने-अपने तजुर्बों का प्रयोग करने दो। किसी न किसी से तो लाभ हो ही जायगा। किसी भी तरह हो, दर्द जल्दी ही दूर होना चाहिए।"

माँ आश्चर्य मुद्रा मे कहती - "सबको एक साथ।"

अमित कहता - "हाँ-हाँ, सबको एक ही साथ। सबको एक साथ बुलाने मे अपना हर्ज ही क्या है ? बेचारे मुहरे तो मागते नही हैं, जिसके भाग्य में जो होगा, अपने-अपने भाग्य का ले जायेगे।। जबतक डॉक्टर लोग नहीं आ पाते, तबतक दादी अपने नुस्खे ही आजमा कर देख ले। घरेलू उपचार करने मे भी अपना बिगडता ही क्या है।"

अमित जरा-जरा से दर्द मे इतना हो-हल्ला मचा देता कि मानो उस पर मुसीबतो का पहाड ही टूट पडा हो। उसे सहानुभूति दिखाते हुये स्नेहवश पत्नी पैर दबाने लगती, माँ माथे पर हाथ फेरने लगती, घबडाकर दादा-दादी देवी-देवताओ से मनोतियाँ मनाने लगते, मिन्नतें करने लगते। पिताजी परमात्मा से प्रार्थना करने लगते। डॉक्टरो को फोन कर दिये जाते, वैद्य बुलाने की व्यवस्था हो जाती। सभी कुछ अमित के कहे अनुसार व्यवस्था कर दी जाती, तो भी अमित को तसल्ली नही होती। वह दर्द दर्द दर्द चिल्लाता ही रहता।

डॉक्टर, वैद्य, हकीम, मत्र-तत्र वाले - सब एक साथ आ जाते। अपने-अपने तरीको से वे अग-अग मे दर्द की तलाश करते, पर दर्द तो उनके आने से पहले ही नदारत हो जाता। मानो वह अमित के हो-हल्ले के डर से ही भाग गया हो। उसके दर्द मे दम ही कितनी होती, जो उसके हो-हल्ला और डॉक्टरो के सामने अपनी शक्ल दिखाने खडा रहता। डॉक्टर, वैद्य आदि अपनी-अपनी फीस और दक्षिणा लेकर अमित की असहनशीलता पर हसते-मुस्कुराते अपने घर चले जाते।

सवेरा होते ही पडौसी पूछते - आये दिन अमित को क्या हो जाता है ? जिससे सारा घर आसमान सिर पर उठा लेता है। घर के लोग तो रात-रात भर सोते ही नही, अडौसी-पडौसी और मुहल्ले के लोग भी हो-हल्ला से जाग जाते हैं।

घरवाले तो क्या बताते, उन विचारो को तो स्वय ही कुछ पता नही चल पाता। लोग अनुमान लगाया करते, परस्पर बाते करते।

कोई कहता - "बेचारे पर किसी देवी-देवता का प्रकोप हुआ-सा लगता है। किसी देवी-देवता को मानता-पूजता भी तो नहीं है। नास्तिक है न।"

कोई कहता - "उसी के द्वारा किये पापो का फल होगा। वह कम पापी थोड़े ही है! खाने-पीने का कोई विवेक तो है ही नही, धधा-व्यापार भी न्याय-नीति का नही है।"

अमित कोरे बहाने नही बनाता था, उसे दर्द तो थोडा-बहुत होता ही था। भले कारण कुछ भी हो। उसकी मूलभूत गलती तो मात्र इतनी सी थी कि उसमे दर्द को सहने की शक्ति नही थी। इसकारण वह पीडा से जितना पीडित होता था, उससे कहीं अधिक पीडा की सम्भावना से परेशान रहता था। इसकारण वह थोडीसी पीडा से ही बहुत बेचैन हो जाता था और जबतक वह पीडा मिट न जाये, तबतक हाय तोबा किया ही करता था।

यह सच है कि जितना हो-हल्ला वह करता था, उतनी पीडा उसे उस समय नही होती थी। वह पीडा से आतकित होकर कुछ अधिक ही शोर मचाया करता था। न स्वय सोता और न घरवालो को सोने देता। इसे ही तो शास्त्रीय शब्दो मे **पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान** कहते हैं।

एक दिन बडी उत्सुकता से एक पडौसी ने चैकअप करने आये एक बडे डॉक्टर से पूछा - "डॉक्टर साहब ! आये दिन क्या हो जाता है अमित को, जो आप लोगो को रोज-रोज टाइम-बे-टाइम कष्ट उठाना पडता है ?"

डॉक्टर का उत्तर था - "अरे भाई ! हुआ क्या ? कुछ भी नही ओवरड्रिकिग और ओवरडाइट के कारण थोडीसी गैसेस ट्रबल हो जाती है, उससे कभी सिरदर्द हो जाता है, कभी पेट मे पीड़ा होने लगती है। कभी सीने मे दर्द होने लगता है तो कभी कमरदर्द। कारण एक है, बीमारियाँ अनेक दिखतीं हैं। उन्हे यह सब बता दिया है, फिर भी आये दिन बिना वजह अनेक डॉक्टरों की भीड़ इकट्ठी कर लेते हैं। बड़े आदमी जो ठहरे। कौन समझाये इनको ? डाक्टरो को क्या ? उनका तो धधा है। फीस मिलती है सो दौड़े चले आते हैं।

भला आदमी ओवरड्रिकिग करता है, उससे नकली भूख लगती है, खाने की इच्छा होती है, सो अनाप-सनाप कुछ भी खा-पी लेता है। पेट तो आखिर

पेट ही है, कोई कोल्हू तो है नहीं, जिसमें कुछ भी पैल दिया जाये ? जिसे पेट की परवाह नहीं, जिसके मुह मे लगाम नहीं, उसका तो आये दिन यही हाल होना है।''

डॉक्टर ने आगे कहा - ''मैंने तो साफ-साफ कह दिया - इस काम के लिए भविष्य मे आप मुझे कभी फोन न करें ? ये क्या खिलवाड है ? एक ओर बडे-बडे डॉक्टरो की लाइन अलग लग रही है, दूसरी और वैद्य, हकीम, जत्र-मत्र-तत्र और गण्डा-ताबीज वाले, पण्डा-पुजारी सब एक साथ बिठा रखे हैं। बडे आदमी के मायने यह तो नही कि चाहे जिसको लाइन मे लगा दे। हर एक के अपने कुछ सिद्धान्त होते हैं, कुछ उसूल होते हैं। पैसा ही तो सब कुछ नही है।''

यह किस्सा कोई एक दिन का नही था, आये दिन ही ऐसा होता था। ऐसी स्थिति मे जिन चिकित्सको मे जरा भी स्वाभिमान था, उन्होने तो आना ही बन्द कर दिया। धीरे-धीरे मुहल्ले के लोग भी समझने लगे थे कि अमित के यहाँ भीड-भाड और चहल-पहल का कारण और कुछ नही, उसे दो-चार छींके आ गईं होगी। परिवर्तन के पहले यह इमेज थी अमित की।

वही अमित जब से धर्मेश के अन्तर-बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ, उसके निकट सम्पर्क मे आया, उसके सान्निध्य मे रहकर तत्त्व का अभ्यास करने लगा, उसका नियमित श्रोता बन गया और उसे अपना ज्ञानगुरु मानने लगा, तब से उसका जीवन ही बदल गया।

अब सचमुच मरणतुल्य पीडा मे भी, सौ-सौ बिच्छु काटे जैसी वेदना होने पर भी वह मुँह से उफ तक नहीं निकालता। बगल के पलग पर सो रही अपनी पत्नी सुनन्दा को भी नही जगाता। जगाना तो बहुत दूर, उसे अपनी असह्य पीड़ा का पता तक नहीं चलने देता। अब उसकी बेचैनी को या तो वह जानता था या सर्वज्ञ देव । अन्य कोई नही जान पाता।

अब अमित दम फूलने के कारण शीतकाल की बडी-बड़ी रातें बैठे-बैठे बिता देता है, पर मजाल कि किसी की नीद खराब करे। सिर दर्द के मारे माथा

पकडे चुपचाप बैठा रहता है, पर किसी से कुछ कहता नहीं। अपने कष्ट मे किसी को सहभागी नहीं बनाता।

कहाँ से आ गई अनायास यह सहनशक्ति उसमें? कैसे हुआ इतना भारी परिवर्तन ?

जब सारा शहर गहरी नीद मे सो रहा होता, सड़के सुनसान हो जातीं, सिपाहियो की सीटियो के सिवाय कही कोई आवाज सुनाई नहीं देती, तब बीमार व्यक्तियो की दुख-दर्द भरी कराहने की आवाजे स्पष्ट सुनाई देने लगतीं है, जो आस-पास के लोगो की नींद भंग तो करती हीं, सम्पूर्ण वातावरण को भी करुण रस से भर देतीं हैं। अस्थमा से पीडित अमित की गिनती भी अब ऐसे ही बीमारो मे हो गई थी। अब उसे सचमुच भारी कष्ट हो गया था। वह रात-रात भर सो नहीं पाता था। सुनन्दा भी देर रात तक जाग-जाग कर पति के दु ख मे सहभागिनी बनने का पूरा-पूरा प्रयत्न करती, पर शरीर तो आखिर शरीर ही है, जब वह थककर चूर-चूर हो जाती तो न चाहते हुए भी नींद आ ही जाती।

अमित अब सुनन्दा को थोडा भी कष्ट नही देना चाहता था। अत· वह सुनन्दा के सो जाने पर उसे जगाता तो नहीं था, पर उसकी पीडा की कराहे कच्ची नीद मे सोई सुनन्दा के कानो मे टकराने से, उसकी दु:खभरी आहो और कराहो से वह स्वय ही चौंक-चौंक पड़ती थी। वह जब भी आँख खोलकर देखती तो वह अमित को तडफता ही पाती।

कुछ गिरने के धमाके से जब सुनन्दा की नींद खुली और उसने उठकर देखा तो पानी का लोटा नीचे पडा था, पानी पलग पर फैल गया था और अमित पलग पर औंधे मुँह पडा प्यास से तडफ रहा था। वह सास लेने में भी भारी कठिनाई महसूस कर रहा था। घडी की ओर देखा तो उस समय तीन बज रहे थे।

सुनन्दा ने अमित की पीठ सहलाते हुए पूछा - "तबियत कैसी है, क्या अभी तक नींद बिल्कुल भी नहीं आई ? जब नींद नहीं आ रही थी, बेचैनी बढ रही थी तो ऐसी स्थिति में उठे ही क्यों? तुमने मुझे जगा क्यों नहीं जगा लिया ?

अमित बोला - "मैंने सोचा कि तुम्हे जगाने से मेरी पीड़ा तो कम होगी नहीं। वह तो मुझे ही सहनी पडेगी। फिर तुम्हें व्यर्थ परेशान क्यो करूँ ? कोई एक-दो दिन की बात तो है नहीं, तुम रात-रात भर जागकर कबतक कितना साथ दे सकोगी ? फिर तुम्हे दिन भर घर-बाहर का सब काम-काज भी तो करना पड़ता है। तुम्हारा शरीर कोई फौलाद का बना तो है नही। सुनन्दा ! मैंने तुम्हे जीवन मे दु:ख के सिवाय और दिया ही क्या है ?"

कहते-कहते अमित की आँखो मे आँसू छलक आये।

"नाथ । आप पुरानी बातो को याद कर-करके ये कैसी बाते करते हो ? याद है उस दिन धर्मेशजी ने क्या कहा था ? उन्होने कहा था कि - जिसका करना चाहिए हमे स्मरण, हम उसका करते हैं विस्मरण और जिसका करना चाहिए हमे विस्मरण हम उसका करते है स्मरण। इसी कारण होता है भव-भव मे मरण।

सचमुच भूतकाल तो भूलने जैसा ही है, उसे याद करने से पश्चाताप और दु:ख के सिवाय और मिलता ही क्या हैं ? भूतकाल तो तीर्थंकर भगवन्तो का भी भूलो से ही भरा था। हम तुम तो बिसात ही क्या है? भूतकाल मे हुई भूलो के लिए रोना-धोना व्यर्थ ही है।

धर्मेश के प्रवचन मे दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी आई थी - **सुख-दु:ख दाता कोई न आन, मोह राज रूप दु:ख की खान** कोई अन्य व्यक्ति किसी को सुख-दु:ख का दाता है ही नहीं, अपना अज्ञान व रागद्वेष ही अपने-अपने दु:ख के विधाता हैं। अत. किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।

सुनन्दा की अमृत तुल्य तत्त्वज्ञान की बाते सुनकर अमित को ऐसा लगा मानो उसके हरे-भरे घावो पर किसी ने मरहम ही लगा दी हो। उसे थोड़ी देर के लिये अतीन्द्रिय आनद की-सी अनुभूति हुई। फिर उसे विकल्प आया - अभी रात के ३ बजे हैं, सुनन्दा को सो जाना चाहिए।

अमित ने स्नेह भरे स्वर में कहा - "सुनन्दा ! तुम सो जाओ ! मुझे मेरे हालातों पर छोड़ दो। मेरे पीछे तुम अपना स्वास्थ्य मत बिगाड़ो। अब तुम मेरे बजाय मेरे बेटे की देखभाल पर ध्यान दो। तुम्हारे सिवाय अब उसका है ही कौन ? मेरे जीवन का तो कोई भरोसा है नहीं, सुना है दमा की बीमारी दम लेकर ही जाती है और फिर एक ही बीमारी थोडे ही है। यह शरीर तो बीमारियों का ही अड्डा बन गया है। तुम्हे क्या बताऊँ सौ बिच्छू की वेदना चौबीसों घटो बनी रहती है। सचमुच यदि धर्मेशजी का सान्निध्य नहीं मिला होता और तत्त्वज्ञान का बल नहीं होता तो सभवत: मैं इस मरणासन्न पीड़ा से बचने के लिए जहर खाकर कभी का सदा के लिये सो गया होता।"

अमित की बातें सुनकर सुनन्दा की आँखों मे आँसू आ गये। आँसू पोंछती हुई बोली - "स्वामी ! आप अपने मुँह पर मौत की बात लाते ही क्यों हो ?
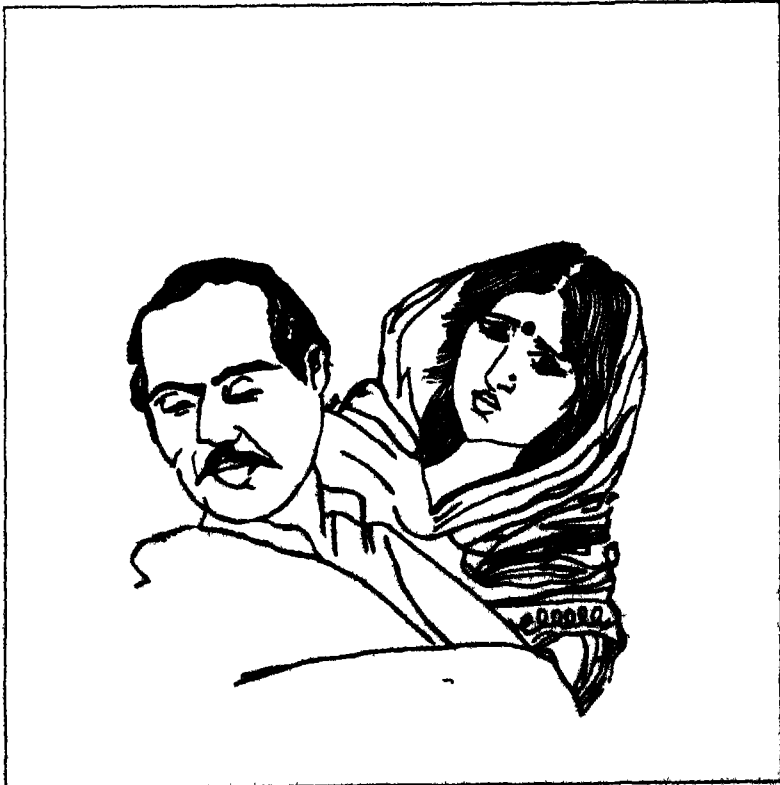
ऐसा अशुभ सोचते ही क्यो हो ? अभी आपकी उम्र ही क्या है ? यह पाप का उदय भी चला जायेगा। मुझे विश्वास है आप शीघ्र पूर्ण स्वस्थ हो जायेंगे।''

अमित ने कहा - ''यह तुम नहीं, तुम्हारा राग बोल रहा है। ठीक है, तुम्हारी भावना सफल हो। यदि मुझे जीने की तमन्ना नहीं है तो मरने की जल्दी भी नहीं है। जबतक यह जिनवाणी सुनने-समझने व तत्त्वचिन्तन-मंथन करने का मौका मिल रहा है, अच्छा ही है, पर हमारे-तुम्हारे सोच के अनुसार कुछ नहीं होता। जो होना है, वह निश्चित है - मुझे इस पर पूर्ण आस्था है। पर इतना मैंने पक्का निश्चय कर लिया है कि अब मैं अपना शेष जीवन धर्मेश के सान्निध्य मे ही बिताऊँगा। आज से वह मेरा मित्र ही नही, गुरु भी है। किसी को गुरु बनाने के लिये उसकी उम्र नही देखी जाती, गुण देखे जाते हैं। अत. अब मैं उससे 'गुरुजी' कहने मे किंचित् भी सकोच नही करूँगा।''

बात करते-करते अमित को फिर दमा का दौरा पड गया और वह छाती दबा कर वहीं बैठ गया। बैठे-बैठे सोचने लगा - करनी का फल तो भोगना ही पडेगा, पलायन करने से काम नही चलेगा। जब कुत्ते के कान मे कीडे पड़ जाते है और वे काटते हैं तो वह कान फडफडाता हुआ इधर से उधर, उधर से इधर भागता फिरता है, अधेरे मे जाकर बैठता है। वह सोचता है कि अधेरे मे कीडो के काटने से बच जाऊँगा। उस बेचारे को यह पता नही कि दुःख का कारण बाहर नहीं, मेरे कान के अन्दर ही विद्यमान है। यही स्थिति हमारी है। कर्म के कीडे तो हमारे ही अन्दर हैं न ? इधर-उधर भागने से अथवा बेमौत मरने से क्या होगा ? कर्म तो पीछा छोडेंगे नही ? अज्ञान दशा मे जो भी उपाय हम करते रहे हैं, वे सब झूठे हैं।

बात तो यही सच्ची है कि - **अनादिनिधन वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमति होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। इसप्रकार परमाणु-परमाणु का परिणमन स्वतंत्र है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है।**

धर्मेश के सम्पर्क मे आने के पहले जब सुनन्दा को तत्त्वज्ञान नहीं था, तब वह भी निरन्तर यह सोच-सोचकर दुःखी रहती थी कि -

माँ की, मेरी, सुनयना की और जीवन्धर की जो दुर्दशा हुई, इसका एक मात्र कारण मेरे पिता हैं। उनके दुर्व्यसनों के कारण हम कहीं के नहीं रहे। क्या यही कर्तव्य होता है एक पिता का ? उनके कारण बचपन तो असीमित दु:खों मे गुजरा ही, शादी भी की तो ऐसे व्यक्ति से कर दी जो एक नम्बर का पियक्कड़ हैं। इस शादी से तो अच्छा यह होता कि वे हमारे हाथ-पैर बांधकर हमे किसी गहरे कुए मे ही पटक देते। पतिदेव के गुण भी कहाँ तक गाये। वे पिताजी से भी दो कदम आगे हैं। किस-किस को रोये ? और तो और अपना ये शरीर भी तो साथ नही देता। आये दिन कोई न कोई बीमारी, कोई न कोई पीड़ा। घर से बाहर निकलो तो जिससे कोई आशा - अपेक्षा करो, वह या तो पीठ फेर लेता है या फिर इज्जत लूटने को फिरता है। कितनी नालायक है यह दुनिया ? न खाने को दाना, न तन ढकने को वस्त्र। सब बर्बाद कर दिया। कहीं का नहीं छोडा। अब तू न जी सकती है और न मर सकती है। क्या नहीं था पिता और पतिदेव के कुलों मे ? रहीसो जैसे ठाठ-बाट थे दोनों के, पर लगा दिया सब को चूना।

एक पहलू तो यह था सुनन्दा के सोचने का और अब दूसरे पहलू को देखिए। जब से सुनन्दा धर्मपुरुष धर्मेश के सम्पर्क मे आई। धर्मेश से तत्त्वोपदेश सुना-समझा और जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तो की श्रद्धावान बनी, तब से यदि कोई उसे बचपन की याद दिलाता है तोवह सोचती है -

जगत में जितने जीव हैं, वे सब अपने किये पुण्य-पाप का ही फल भोगते हैं, दु:खी-सुखी करने वाला यदि अन्य कोई है तो हमारे द्वारा किये गये पाप-पुण्य का क्या होगा? क्या वे निष्फल नहीं ठहरेंगे ?

अत: किसी अन्य को अपने दु:खों का कारण मानना, दूसरों के दोष देखना मूर्खता है। कोई भी पर पदार्थ भला-बुरा नहीं है, इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अपने राग-द्वेष व अज्ञान से ही वे भले-बुरे प्रतीत होते हैं।"

सुनन्दा को जब भी पूर्व दु:खद स्मृतियां सतातीं तो वह तुरंत ही पुराण पुरुष राम, हनुमान, सीता, द्रोपती, अजंना आदि के आदर्शों को याद करके मन ही मन समाधान पा लेती।

इस तरह अब उसके सहज ही चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते आज्ञाविचय, अपायविचय व विपाकविचय धर्म ध्यान होने लगा।

फिर भी वह दोनो सांध्यकालो में दो-दो घड़ी शान्ति से बैठकर एकान्त में पचपरमेष्ठी वाचक मत्रो का एव मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करके चित्त को एकाग्र करने का पुरुषार्थ भी करती, ताकि उपयोग मे आत्मस्थ होने की पात्रता प्रगट हो सके।

सुनन्दा ने अमित को सबोधित करते हुये कहा - "जिसतरह हमें अज्ञान अवस्था मे अपने आर्त-रौद्र ध्यानो की पहचान नहीं थी। इसीतरह बहुत से लोगो को अपने विशुद्ध भावो का पता नही होता। इस कारण वे घबराते है, सोचते है कि - हाय ! हम क्या करे ? धर्मध्यान तो हमसे होता ही नही है, हम तो कभी धर्मध्यान करते ही नहीं हैं। वैसे भी हम कभी दस मिनट बैठकर मन को एकाग्र कर नहीं पाते। अत: हमे धर्म-ध्यान की प्राप्ति कैसे होगी ?

पर उन्हे चिन्ता करने की आवश्यकता नही है, चिन्ता करने से कुछ होता भी नहीं है। तत्त्वज्ञान होने पर, वस्तु की स्वतत्रता का भान होने पर, कर्म सिद्धान्त का परिचय होने पर धर्म ध्यान स्वयमेव होने लगता है। **सिद्धान्तों के सहारे अपने मे समता भाव जगाना ही तो धर्मध्यान है वह एकांत में बैठकर भी हो सकता है और चलते-फिरते भी होता ही रहता है।** अत: निश्चित होकर भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। वस्तुस्वरूप समझने का प्रयास एव शास्त्राभ्यास से पर मे एकत्व-ममत्व एव कर्तृत्व-भोक्तृत्व की धारणा को निर्मूल करना चाहिए। धर्मध्यान करने का यही एकमात्र उपाय है।

इसके बिना कोई भी क्रियाकाण्ड, आसन और प्राणायाम आदि क्रियाये हमे धर्मध्यान की मजिल पर नही पहुँचा पावेंगी।"

इसप्रकार सातिशय पुण्य के उदय से अमित और सुनन्दा दोनो के जीवन में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, वह सचमुच स्तुत्य है, अनुकरणीय है।●

३३

दुर्व्यसनो से हुए एक साथ अनेक रोगो के कारण अमित की देह तो दुर्बल हो ही गई थी, खाँसी और दमा के विशेष प्रकोप से कभी-कभी वह बहुत अधिक परेशान हो जाता था। ये दो ऐसे प्राण लेवा मर्ज हैं, जो मरीज को कहीं का नहीं छोड़ते। इनसे मरीज को वेदना तो मरण तुल्य होती है और मरता है नहीं। खाँसते-खाँसते हाल बेहाल हो जाता है। ऐसी दयनीय दुर्दशा हो जाती है कि देखने वालों को रोना आ जाये।

अमित को दमा के ऐसे दौरे दिन में एक-दो बार नहीं, अनेक बार आने लगे थे। दमे के दौरो से दम घुटने लगती, दम घुटने से वह पसीना-पसीना हो जाता। आँखो मे आँसू आ जाते, मुँह से फेन गिरने लगता। बेचैनी बढ़ने से वह अधीर हो उठता, उसे ऐसा लगता कि मानो तत्त्वज्ञान उसके धैर्य की परीक्षा ले रहा हो।

अमित ज्यो-ज्यो धैर्य धारण करके तत्त्व ज्ञान की परीक्षा मे पास होने की कोशिश करता, तत्त्व का आलम्बन लेकर दु:ख को समताभाव से सहने का प्रयत्न करता, त्यों-त्यो दमा का प्रकोप और अधिक बढता हुआ दृष्टिगोचर होता था।

यद्यपि सुनन्दा को मानवीय कमजोरी के कारण कभी-कभी अपने दुर्भाग्य पर और पति के दुर्व्यसनों पर भारी झुंझलाहट होती तथा खीज भी खूब आती। इस कारण क्रोधावेश में वह कभी-कभी उन्हें बुरा-भला भी कह देती; पर उस के हृदय में अमित के प्रति आदरभाव था, प्रेम था, सहानुभूति थी, समर्पण भी था। अमित को सन्मार्ग पर लाने का श्रेय धर्मेश के सिवाय यदि किसी को जाता है तो वह एक मात्र सुनन्दा ही थी। सुनन्दा का मानना था कि 'पाप से

घृणा करो पापियो से नहीं।' पापी तो एक दिन पाप का त्यागकर परमात्मा तक बन जाते हैं। इस कारण उसने अपने पति अमित के प्रति बीमारी के समय सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही रखा और उसकी भरपूर सेवा की तथा सब तरह से पूरा-पूरा सहयोग दिया।

अमित की पीडा मे सुनन्दा रात-रात भर जागकर पूरा-पूरा साथ देने का प्रयास करती थी। जब भी अमित को दमा का दौरा पडता तो तत्काल सुनन्दा उसकी पीठ पर हाथ फैरती, उसके आँसू पोछती। दौड-दौड कर दवाये लाती और खिलाती-पिलाती थी। अपनी गोद मे उसका सिर रखकर सिर को सहलाती। जरूरत पडने पर हाथ-पैर दबाती, नहलाती-धुलाती भी।

सेवा-परिचर्या के साथ-साथ पीडा को भुलाये रखने के लिए, पीडा पर से उपयोग को हटाने के लिए, वहाँ से चित्त विभक्त करने के लिए तत्त्वज्ञानपरक और वैराग्यवर्द्धक वैराग्यभावना, बारह भावना के पाठ सुना-सुना कर वस्तु स्वरूप और ससार के स्वरूप का ज्ञान भी कराती। कभी कर्मो की विचित्रता की कथा-कहानियाँ सुनाकर समता भाव जागृत करने का प्रयास करती। कभी आध्यात्मिक भजन सुनाकर उसके मन को रमाती। सुनते-सुनते बहुत कुछ पद्य अमित को याद भी हो गये थे, जिन्हे वह स्वय इस तरह गुनगुनाया करता था -

जग है अनित्य[१], तामैं सरन न वस्तु कोय,[२]
तातैं दुःखरासि भववास कौ निहारिए।[३]
एक चित् चिन्ह[४] सदा भिन्न परद्रव्यनि तैं[५],
अशुचि शरीर मे न आपाबुद्धि धारिए॥[६]
रागादिक भाव[७] करै कर्म को बढावै तातैं,
सवरस्वरूप होय[८] कर्मबध डारिए।[९]
तीनलोक[१०] माहि जिनधर्म[११] एक दुर्लभ है,[१२]

---

१ अनित्य, २ अशरण, ३ ससार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि ७ आस्रव, ८ सवर, ९. निर्जरा, १० लोक, ११ धर्म, १२ बोधि दुर्लभ

तातैं जिनधर्म को न छिनहू बिसारिए॥

पण्डित कविवर भागचद के इस एक ही पद्य में अत्यन्त सक्षेप मे बारह भावनाओ का स्वरूप आ गया है। जो अमित के ध्यान मे बराबर आने लगा था।

एक बार सुनन्दा ने अमित से पूछा - "अच्छा बताओ ! बारह भावनाओ का सक्षिप्त सार क्या है ?"

अमित ने बारह भावनाओ का सार बताते हुए कहा -

"अनित्यभावना मे कहा है कि - जिन सयोगो मे तू सदा रहना चाहता है, वे क्षणभगुर है, अनित्य है। पुत्र परिवार कचन कामनी तेरे साथ सदा रहने वाले नही हैं या तो ये तेरा साथ छोड देगे अथवा तू स्वय इनसे चिर विदाई ले लेगा। तब ये सब सहज ही छूट जायेगे।

अशरण भावना मे यह कहा है कि - वियोग होना सयोगों का सहज स्वभाव है, कोई ऐसी औषधि या मणि मत्र-तत्र नही है जो सयोगो का वियोग होने से बचा सके। जगत अशरण है, इसमे शरण खोजना ही पागलपन है। पच परमेष्ठी और निज आत्मा के सिवाय सब अशरण हैं।

ससार भावना मे कहा है - ससार के संयोगो मे जब सुख है ही नहीं, तो इन सयोगो की शरण मे जाना ही निरर्थक है।

एकत्व भावना मे यह कहा गया है कि दु:खो को मिल-जुलकर नही भोगा जा सकता। अकेले ही भोगने होगे।

अन्यत्व भावना में एकत्व के भाव को ही नास्ति से दृढ किया जाता है और यह भावना आ ही जाती है कि कोई किसी का साथी नहीं हो सकता। जब शरीर ही साथ नहीं देता तो और तो क्या साथ देंगे।

अशुचिभावना मे कहा जाता है कि - जिस देह से तू राग करता है, वह देह अत्यन्त मलिन है, मलमूत्र का घर है।

इस प्रकार प्रारंभ की छह भावनायें ससार शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न कराने के निमित्त हैं। इससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्व सुनने-समझने को तैयार हो जाता है। इन भावनाओ के आने से देहादि पर पदार्थों से भेदभाव भी दृढ होता है।

शेष छह भावनाये तत्त्वज्ञानपरक हैं, जिनके द्वारा कर्मों के आस्रव, सवर, निर्जरा का ज्ञान होता है तथा लोक के स्वरूप की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है, धर्म भावना मे धर्म के स्वरूप का विशेष चिन्तन करने का अवसर प्राप्त होता है। और बोधि दुर्लभ भावना से यह बोध प्राप्त होता है कि - रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है, अत: समय रहते उसे प्राप्त करने मे शतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इन बारह भावनाओ का बारम्बार चिन्तन-मनन करना भी व्यवहार धर्म ध्यान है, क्योकि इनसे ज्ञान, वैराग्य की ही वृद्धि होती है।''

जब अमित की तबियत अधिक खराब हो जाती थी तो धर्मेश स्वय अमित को सबोधनार्थ उसके पास आ जाता और उसे समझाता। तत्त्वचर्चा भी करता और पीडा चिन्तन आर्तध्यान के खतरे बताकर उससे बचे रहने की प्रेरणा देता तथा धर्मध्यान की विषयवस्तु क्या है और व्यवहार धर्मध्यान के ध्येय क्या-क्या है ? इस बात की जानकारी कराया करता था।

धर्मेश ने एक बार अमित को सबोधित करते हुए कहा -

जो जो देखी वीतरागने, सो-सो देखी वीरा रे।
अनहोनी होसी नहिं क्यो ही, कोहे होत अधीरा रे।
समयो एक बढ़ै नहीं घटसी जो सुख-दु:ख की पीरा रे !
तू क्यो सोच करै मन मूरख होय वज्र ज्यों हीरा रे ॥

जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ देव ने जैसा जाना है, देखा है, वैसा ही निरतर परिणमता है। अत: संयोगो को इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दु:खी होना निष्फल है। ऐसे विचार से ही समता आती है।''

जितनी देर धर्मेश अमित के पास बैठा रहता और उसे तत्त्वचर्चा में रमाये

रहता, तब तक तो उसे दर्द का अहसास ही नहीं होता। थोड़ा-बहुत दर्द की ओर उपयोग जाता भी तो तत्काल विषय बदल कर पुनः बातों में लगा लेता।

बुधजन कवि को याद करते हुए धर्मेश ने उनका वह लोकप्रिय आध्यात्मिक भजन सुनाया, जिसे सुनकर सहज निर्भयता आती है।

हमको कछूभय ना रे, जान लियो संसार ॥ टेक॥
जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष मझार ।
निश्चयभेद कछू भी नाहीं, भेद गिने संसार ॥ १॥
परवश ह्वै आपा विसारिकै, राग-द्वेष को धार ।
जीवत-मरत अनादि काल तैं, यौं ही है उरम्यार ॥ २॥
''जाकरि जैसे जाहि समय में, जो होता जा द्वार ।
सो बनि है, टरि है कछु नाहीं; करि लीनो निरधार ॥
हमको कछु भय ना रे जान लियो संसार ॥...

देखो, आचार्य रविषेण ने भी इस आशय का एक श्लोक लिखा है। वे लिखते है - जिसे जहाँ जिस कारण से, जिस प्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है, उसे वहाँ उसी कारण से उसी प्रकार, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।[1]

धर्मध्यान की व्यापकता को स्पष्ट करते हुये धर्मेश ने कहा -

''देखो अमित ! तात्त्विक विषयो की चर्चा-वार्ता करना भी धर्मध्यान ही है। ध्यान अकेले आँख बद कर बैठने से ही नहीं, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते भी होता है। अतः तुम निरंतर ऐसा ही कुछ न कुछ सोचा करो तो पीड़ा से भी बचोगे और पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान से भी बचोगे ?

इस तरह सुनन्दा, धर्मेश तथा अन्य मिलने-जुलने आने वालों में अमित का ध्यान बँटा रहने से दिन तो बहुत आराम से कट जाता, पर रात मे अकेला पडते ही दर्द अधिक महसूस होने लगता।

---

१ प्रागेव यद् अवाप्तव्यं, येन यत्र यथा यत ।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्य, तेन तत्र तथा ततः ॥ ४०॥
- पद्मपुराण सर्ग ११०

अकेली सुनन्दा आखिर कबतक और कितने दिनों तक जागे। अमित को भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उसे देर रात तक जगाना पसंद नहीं था। अब तो वह धर्मेश द्वारा दिये मार्गदर्शन से ही अपने समय का सदुपयोग करने लगा था। पुण्योदय से अमित धीरे-धीरे ठीक भी होने लगा था।

कुछ बीमारियाँ बदनाम हो गई हैं, जिनके बारे मे कहा जाता है कि ये प्राणान्त तक पीछा नहीं छोडतीं। जैसे - दमा तो दम लेकर ही रहता है। कैंसर का कोई इलाज ही नही है, टी वी भी इन्ही प्राणलेवा रोगो में गिनी जाती है। लीवर, किडनी के नामो से भी लोग घबराते रहे हैं।

जब इनमे से एक-एक रोग से ही लोगो की रूह काँप उठती थी तो जिनको ऐसे अनेक रोग एक साथ हो गये हों, उनकी घबराहट की तो बात ही क्या कहे ?

अमित उन्ही रोगियो मे एक था, जो अपनी ही भूल से एक साथ अनेक प्राणलेवा रोगो से घिर चुका था। जिसके बचने की अब किसी को कोई आशा नहीं रही थी।

पर यह आवश्यक तो नहीं कि प्राणलेवा बीमारियाँ प्राण लेकर ही जाये। यदि आयुकर्म शेष हो और असाता कर्म का अन्त आ जाये तो बड़ी से बडी बीमारियाँ भी समाप्त होते देखीं जाती हैं।

जिन बीमारियो से पिण्ड छुडाना अमित को पश्चिम से सूर्य उदित होने जैसा असभव लगने लगा था, वे बीमारियाँ भी डॉक्टरो के प्रयास और अमित व सुनदा के भाग्योदय से धीरे-धीरे ठीक हो गईं।

अमित जब लम्बी बीमारी के बाद शारीरिक व मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होकर सुनन्दा के साथ सायकालीन ज्ञानगोष्ठी मे सम्मिलित हुआ तो सभी को प्रसन्नता हुई। धर्मेश ने भी हर्ष व्यक्त किया और मुस्कराकर उसको स्वास्थ्य लाभ केलिए बधाई दी।

अमित ने धर्मेश को अभिवादन करके बधाई के उत्तर में धन्यवाद देते हुए विनम्र भाव से निवेदन किया -

"धर्मध्यान के दस भेदों की चर्चा जो जिनागम में है, वे दस भेद कौन-कौन से है? और उन ध्यानो को करने की प्रक्रिया क्या है ?

धर्मेश ने कहा - "तुम्हारा प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। प्रासगिक भी है। इस पूरे शिविर में ध्यान का विषय ही तो चला है।"

धर्मेश ने तत्त्व चर्चा प्रारभ करने से पहले अमित से पूछा - "कहो अमित ! अब तुम्हारी तबियत बिल्कुल ठीक है न ? चेहरे से अब तुम काफी ठीक लग रहे हो। अब तुम्हे स्वास की भी वैसी तकलीफ नहीं दिखती, जैसी पहले थी। अच्छा हुआ तुम स्वस्थ हो गये। तुम्हारी बीमारी की सभी को चिन्ता थी।"

अमित ने मुख पर थोडी मुस्कान लाते हुए कहा - "हाँ, आप सबकी शुभकामनाओ से और भली होनहार से बच गया हूँ। बस अब शेष जीवन आपकी शरण मे ही समर्पित रहेगा। हाँ, मैंने धर्मध्यान के बारे में "।

धर्मेश ने कहा - हाँ, मुझे ध्यान है। भाई ! धर्मध्यान के १० भेदो का कथन जिनागम मे हैं, उनका सक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है -

१. आज्ञा विचय - इसमे पाँच अस्तिकाय तथा छह जीवनिकाय आदि के चित्तवन मे जहाँ अपनी मति की गति न हो, उसे सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर चिन्तन करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

आचार्य अकलक देवने राजवार्तिक ग्रन्थ में आज्ञाविचय का जो स्वरूप लिखा है, उसका साराश यह है कि - तीव्र कर्मोदय से जिनकी मतिमंद है, वे स्वय तो अमूर्त व सूक्ष्म पदार्थों का निर्णय कर नहीं सकते और तत्त्वज्ञानी उपदेशक सर्वत्र सदाकाल सुलभ नही होते। अमूर्त आत्मा और धर्म, अधर्म द्रव्यो की सिद्धि के लिये ऐसे दृष्टान्त व हेतु लोक में उपलब्ध नहीं होते जो उन सूक्ष्म तत्त्वों को समझा सके।

ऐसी स्थिति मे मन्दबुद्धि मुमुक्षु जीवों को एकमात्र जिनाज्ञा को प्रमाण मानना ही शरणभूत है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग व सर्वज्ञ होने से अन्यथावादी नहीं होते। कहा भी है - नान्यथा वादिनोजिनः

अतः जिनेन्द्र कथित आगम को ही प्रमाण मानकर उसमें निरूपित सूक्ष्मतत्त्व का चिन्तन करना आज्ञाविचय है।

तथा स्व-समय पर-समय के ज्ञाता तत्त्वज्ञानी वक्ता और लेखको द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अतिसूक्ष्म पचास्तिकाय, जिवनिकाय तथा आत्मा परमात्मा के स्वरूप का आगम व युक्तियो के आलम्बन से एव सरल-सुबोध दृष्टान्तो से जन साधारण को समझना, तथा मिथ्यावादियो के तर्कजाल का भेदन करके उन्हे जिनमत सुनने-समझाने के प्रति सहिष्णु बनाना तथा ऐसे धर्मकथा आदि कार्य करना, जिससे जिनश्रुत की प्रभावना हो।

ये सब कार्य भी आज्ञाविचय धर्मध्यान की सीमा मे ही आते हैं, क्योकि इनमे भी सर्वज्ञ की वाणी का ही चिन्तन-मनन एव प्रचार-प्रसार होता है।

२ **अपाय विचय** - शुभाशुभ भावो से मुक्त होने का चिन्तवन करना अपाय विचय है। राग-द्वेष-कषाय और आस्रव आदि क्रियाओ मे निद्य इहलाक व परलोक से छूटने का उपाय सोचना अपाय विचय है।

उपाय विचय के सदर्भ मे अकलकदेव का कथन है कि - अपाय कहो या उपाय दोनो एकार्थवाचक है। उन्मार्ग मे भटके जीवो को सन्मार्ग मे लाने के उपायो पर विचार करना ही अपायविचय है।

राजवार्तिक मे ऐसा कहा है कि - मिथ्यादर्शन से जिनके ज्ञान नेत्र अन्धकाराछन्न हो रहे है, इस कारण जो सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश से विमुख हो रहे है, सम्यक्पथ का ज्ञान न होने से जो उन्मार्ग मे भटक रहे है, उन्हे सन्मार्ग मे लाने के उपायो का चिन्तन करना, अपायविचय है।

अथवा मिथ्यादर्शन से आकुलित चित्त वाले प्रवादियो के द्वारा प्रचारित कुमार्ग से हटकर जगत के जीव सन्मार्ग मे कैसे लगे? और अनायतन सेवा से कैसे विरक्त हो? धर्म के नाम पनप रही पापकारी प्रवृत्तियो से कैसे निर्वृत्त हो, सुपथगामी कैसे बने? - इसप्रकार के उपायो का चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

३ **विपाक विचय** - स्वत· या परकृत आपतित सकटकाल मे उत्पन्न हुई आकुलता से बचने के लिए उस सकट को अपने ही कर्मोदय का फल मानकर साम्यभाव रखना विपाक विचय है।

४. संस्थान विचय - लोक के स्वरूप का विचार करना। यह पिण्डस्थ पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार तरह से किया जा सकता है।

राजवार्तिक मे इन्ही उपर्युक्त चार भेदो के साथ छह भेद और मिलाकर कुल दस भेद गिनाये हैं, जो इसप्रकार हैं -

५. उपाय विचय - आत्मा का कल्याण करने वाले जिनोपदिष्ट उपायो का चिन्तवन करना उपाय विचय है।

६. जीव विचय - जीवद्रव्य व जीवतत्व के स्वरूप एव गुणस्थान आदि का चिन्तवन करना जीव विचय है।

७. अजीव विचय - अजीव द्रव्यो के स्वरूप का चिन्तवन करना अजीव विचय है।

८ विराग विचय - बारह भावना आदि के माध्यम से शरीर की अपवित्रता ओर भोगो की असारता का चिन्तवन करना विराग विचय है।

९ भव विचय - चारो गतियो मे भ्रमण करने वाले जीवो को मरने के बाद जो पर्याय प्राप्त होती है, उसे भव कहते हैं। यह भव दु खरूप है तथा यह मनुष्य भव का अभाव करने को मिला है। भव (जन्म-मरण) बढ़ाने के लिए नही मिला - ऐसा चिन्तवन करना। भव विचय धर्मध्यान है।

१०. कारण विचय (हेतु विचय) - तर्क व युक्ति का अनुसरण करते हुए स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर तत्त्व की चिन्तवन करना हेतु विचय है।

इसके सिवाय बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से भी धर्मध्यान के दो भेदो का उालेख आगम मे हैं।

शास्त्र के अर्थ खोजना, शीलव्रत पालना, गुणानुराग रखना, प्रमाद रहित होना तथा जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सकें, उसे बाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जिसे केवल अपना आत्मा ही जान सके, वह आभ्यन्तर निश्चय धर्मध्यान है।

इसप्रकार धर्मध्यान के उपर्युक्त दस भेदो के आश्रय से अशुभभाव से बचे रहने रूप व्यवहार धर्मध्यान होता है तथा शुद्धात्मा के आश्रय से निश्चय धर्मध्यान होता है।

निश्चय धर्मध्यान की पूर्व भूमिका मे इन शुभभाव रूप दस प्रकार के व्यवहार धर्मध्यानो का आश्रय अवश्य होता है।

ये सभी धर्म ध्यान सामूहिक स्वाध्याय के रूप मे, तत्त्व गोष्ठी के रूप मे, वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय क भदो के रूप मे बारह भावना के चिन्तवन के रूप मे, सामायिक के रूप मे, उठते-बैठते, चलते-फिरते तत्त्व विचार करने के रूप मे आदि अनेक रूपो मे हो सकते हैं।

एक श्रोता ने कहा - "गुरुजी। निश्चय ही यह ध्यान की चर्चा इस शिविर की अविस्मरणीय उपलब्धि होगी। इसके लिये आपका जितना भी उपकार माना जाय, कम ही होगा। इस चर्चा से हम सबको आशातीत अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।" ●

३४
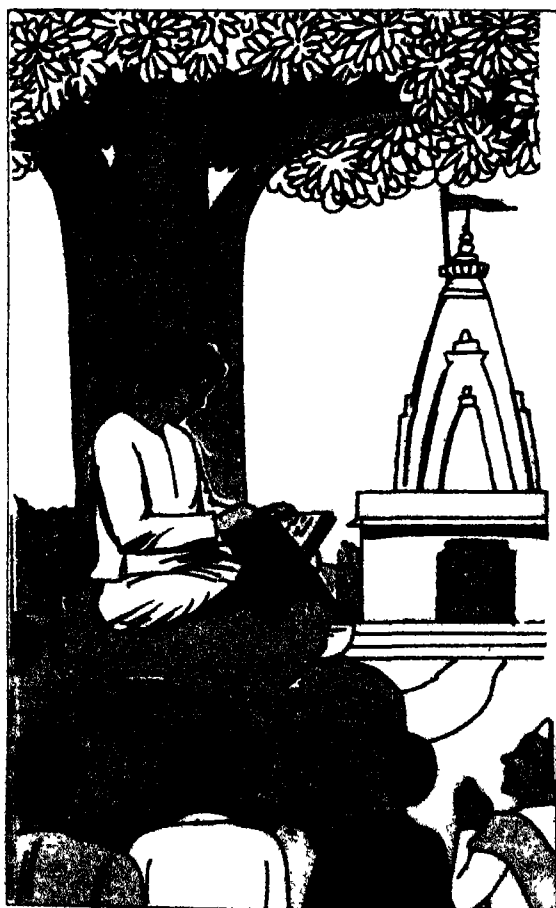
सायंकालीन सात बजे की गोष्ठी मे सम्पत सेठ ने कहा -

"गुरुजी । धर्मध्यान की बात तो कुछ-कुछ समझ में आई; पर यह शुक्लध्यान क्या होता है? क्या धर्मध्यान से बढ़कर भी कोई और ध्यान होता है ?

धर्मेश ने कहा - हाँ भाई । सर्वोत्कृष्ट ध्यान तो शुक्लध्यान ही है। वैसे देखा जाये तो निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान की विषयवस्तु में स्थूल दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। **ध्यान, ध्याता व ध्येय के विकल्प से रहित स्वरूप विश्रान्ति ही निश्चय धर्मध्यान है तथा शुक्लध्यान में भी निर्विकल्प समाधि ही होती है**; पर सूक्ष्मदृष्टि से देखे तो शुक्लध्यान मात्र उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी मे आठवे गुणस्थानवाले ध्यानस्थ मुनियो को ही होता है। गृहस्थ की भूमिका मे ऐसी योग्यता या सामर्थ्य प्रगट नहीं हो पाती कि उसे शुक्लध्यान हो जाये, जबकि धर्मध्यान का शुभारम्भ अविरतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से हो जाता है।

शुक्ल का सामान्य अर्थ सफेद होता है, पर यहाँ शुक्ल शब्द का प्रयोग निर्मलता के अर्थ मे है। भगवान आत्मा स्फटिकमणि के समान पूर्ण निर्मल है, उज्ज्वल है। रागादि मल से रहित निर्मल स्वसवेदन ज्ञान को शुक्ल कहते हैं। इसतरह निज शुद्धात्मा मे विकल्प रहित समाधि ही शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यान की परिभाषा लिखते हुए नियमसार की तात्पर्यवृत्ति मे कहा गया है कि '**ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यान के फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रिय समूह से अगोचर निरंजन निजतत्त्व में अविचल स्थिति ही शुक्ल ध्यान है।**

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका मे भी यह लिखा है कि "**रागादिविकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान को आगमभाषा में शुक्ल ध्यान कहा गया है।**"

आ. पूज्यपाद स्वामी ने एव अकलंकदेव ने शुक्ल ध्यान को परिभाषित करते हुये यह कहा है कि "**जिसमे शुचि गुण का सम्बन्ध है, वह शुक्ल ध्यान है - जैसे मैल हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है, उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्म परिणति शुक्ल ध्यान है।**"

कार्तिकेय अनुप्रेक्षा मे लिखा है कि "**जहाँ गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मों का क्षय और उपशय होता है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होतीहै; उसे शुक्ल ध्यान कहते है।**

ज्ञानार्णव ग्रन्थ मे शुक्ल ध्यान का स्वरूप विशेष स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है - "**जो निष्क्रिय व इन्द्रियातीत है। 'मै ध्यान करूँ'** इस प्रकार के ध्यान की धारणा से रहित है, जिसमे चित्त अन्तर्मुख है, वह शुक्ल ध्यान है "

यह शुक्ल ध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान सुनिर्मल और निष्कम्प होता है।

द्रव्यसग्रह मे इसतरह के ध्यान की भूमिका प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि - "**हे भव्य। कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ भी मत बोल, कुछ भी चिन्तवन मत कर। जिससे आत्मा निजात्मा मे तल्लीन होकर स्थिर हो जावे। आत्मा मे पूर्णरूप से तल्लीन होना ही परम शुक्ल ध्यान है।**"

ध्यान रहे, यह शुक्ल ध्यान मुनियो को ही होता है, गृहस्थो मे ऐसी पात्रता नही होती।

इस शुक्लध्यान की उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ है -

१. पृथकत्ववितर्क वीचार - शुक्लध्यान की इस प्रथमश्रेणी मे अनेक द्रव्य ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं, ध्यान के विषय बनते हैं और इन विषयो का ध्यान करते समय उपशमश्रेणी चढनेवाले उपशान्तमोही मुनि के मन-वचन-काय (योगो) का परिवर्तन होता है, जिसे योगसंक्रान्ति कहते हैं। इसप्रकार उपयोग मे अबुद्धिपूर्वक ज्ञेय पदार्थों की तथा योग प्रवृत्तियो की सक्रान्ति होती हैं।

यह संक्रान्ति आगे की एकत्ववितर्क वीचार आदि श्रेणियों में नहीं होती। वहाँ उपयोग रत्नदीप की ज्योति की भाँति निष्कम्प होकर ठहर जाता है।

२. एकत्ववितर्क वीचार - शुक्लध्यान की इस द्वितीय श्रेणी मे एक द्रव्य का ही आश्रय होता है। इसमें ज्ञेय से ज्ञेयान्तर सक्रमण नही होता। यह ध्यान क्षीण कषायी बारहवे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को होता है।

३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती - शुक्लध्यान की यह तृतीय श्रेणी सयोगकेवली - तेरहवे गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ भगवान के होती है। इस गुणस्थान के अन्तिम अन्तमुहूर्तकाल मे जब भगवान स्थूल योगो का निरोध करके सूक्ष्म काययोग मे प्रवेश करते है, तब उनको सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है।

४ व्युपरत क्रिया निवर्तीनि - यह शुक्लध्यान अयोगकेवली चौदहवे गुणस्थान मे योग का पूर्ण निरोध हो जाने पर होता है।

इनके सिवाय बाह्य शुक्लध्यान एव आध्यात्मिक शुक्लध्यान के भेद से भी शुक्लध्यान के दो भेद होते हैं।

शरीर और नेत्रो का स्पन्द रहित होना, जभाई, आदि नही होना, स्वासोछ्वास का प्रचार व्यक्त न होना बाह्य शुक्लध्यान है तथा जहाँ केवल आत्मा का स्वसवेदन हो, वह आध्यात्मिक शुक्ल ध्यान है।

ऐसा ध्यान करने से आत्मा मे लगे अनादिकालीन कर्ममल का सर्वथा अभाव होकर आत्मा पूर्ण निर्मल हो जाता है, मुक्त होकर सदा के लिए अतीन्द्रिय आनन्द मे मग्न हो जाता है।

प्रत्यक्ष अनुभूति तो मात्र ध्यानस्थ मुनिराजो को ही होती है। वह भी उपशम एव क्षपकश्रेणीवालो को। अत इस विषय मे तो इतने से ही सतोष करना होगा। हम यह भावना भाये कि वह अवसर हमे शीघ्र प्राप्त हो, जब हम शुक्लध्यान को प्राप्तकर परमात्मदशा को प्राप्त करें।

विषय सूक्ष्म था, पर जाननेलायक था, अत: सभी आत्मार्थी जिज्ञासु भाइयो ने इस गभीर चर्चा को भी मनोयोगपूर्वक सुना और धर्मेश को इस सूक्ष्म चर्चा के लिए मन ही मन धन्यवाद दिया और भावना भायी कि - यह महापुरुष दीर्घ जीवी हो, ताकि लम्बे समय तक लोगो को इसके ज्ञान का लाभ मिलता रहे। •

३५

धर्मेश की अन्तर्रात्मा से निकले करुण और शात रस से ओत-प्रोत मर्मस्पर्शी उद्‌गारो ने तो श्रोताओ को प्रभावित किया ही, उसके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व ने भी आस-पास के वातावरण को तत्त्वज्ञान की सुरभि से सुरभित कर दिया था। जैनो के सिवाय अनेक हिन्दू एव मुसलमान भाई भी उसके दैनिक श्रोता बन गये।

सुनन्दा, सुनयना और उनके सभी साथी तो मानो कृतार्थ ही हो गये। इन लोगो को तो ज्योही अपने पुराने दिन याद आते तो उनके रोगटे खडे हो जाते, रूह काँप जाती। इन्हे तो अब धर्मेश ही अपना सर्वाधिक शुभचिन्तक लगने लगा था। अत कोई भी प्रसग हो, धर्मेश याद आये बिना नही रहता।

जब कभी फुरसत के समय घटा आधा घटा एक साथ बैठते तो बस धर्मेश की ही चर्चा छिड जाती।

अमित कहता - "सचमुच धर्मेश जैसा व्यक्ति इस युग मे तो दिखाई नही देता। एक दिन वह था जब मुझे अपनी पढाई पर गर्व था और धर्मेश पर मुझे मित्र के नाते दया आती थी। उसके अनपढ रह जाने का मुझे अफसोस रहा करता था, तरस आता था उसके पिछड़ेपन पर, परन्तु देखते ही देखते वह पिछड़ा व्यक्ति कितना आगे बढ गया ? कहाँ से कहाँ पहुँच गया और मैं अपने को तीस मारखाँ समझने वाला कहाँ जा गिरा ?

मैं जानता हूँ कि यह बस अचानक नही हुआ। ये बीज तो उसमे बचपन से ही थे, पर हरएक को ऐसी परख कहाँ होती है ? मैं भी उन्ही मे से एक हूँ, जो उसे पहचान ही नहीं पाया। वह सचमुच धूल मे ढका हीरा निकला।

एक वह, जिस पर आज हम-तुम ही क्या, सारी दुनिया नाज करती है। जो एक बार भी उसके सम्पर्क मे आता है, उस पर समर्पित हो जाता है। दूसरा मैं हूँ, जो न केवल धर्मेश की दृष्टि में; बल्कि अपने समस्त समाज की दृष्टि मे दया का पात्र बन गया हूँ।

सचमुच यह धर्म का ही कोई अद्‌भुत प्रभाव है, जिसकी मैंने अबतक कोई कद्र नही की। निरतर अप्रशस्त परिणामो मे ही जिया। मति के अनुसार गति होनी थी सो हो गई। जब-जब मुझे ऐसा पश्चाताप होता है और मैं धर्मेश से अपने दिल का दर्द कहता हूँ तो मालूम है। वह क्या कहता है ? वह कहता है भाई । यह कोई बड़ी हानि नहीं हुई। अभी भी कुछ नहीं बिगडा। तुम ही क्या ? अभी तो हम-तुम-सभी एक ही श्रेणी मे है, स्वभाव से तो सभी भगवान है, पर भूले हुये भगवान है। सत्य बात समझ मे आने का भी अपना समय होता है। अत. भूत को भूलो, भविष्य की चिन्ता छोडो और वर्तमान मे आध्यात्मिक अध्ययन, मनन, चितन करो, सब ठीक हो जायेगा।''

सम्पत सेठ ने कहा - ''हाँ भाई अमित । तुम ठीक कह रहे हो। धर्मेश ऐसा ही महान आत्मा है। यदि और कोई होता तो आश्वस्त करने के बजाय बचपन मे हुए हमारे दुर्व्यवहार की याद दिला-दिला कर हमे नीचा दिखाता और अपमानित करता। पर धर्मेश वह तो सचमुच देवता है, देवता ।

मुझे ही देखो न । मैंने अपनी सेठाई के अभिमान मे जिनकी थोडी भी उपेक्षा की, वे आज बडे क्या बन गए; मुझसे एक-एक बात का बदला लेने पर तुले रहते हैं। ऐसी है जगत की प्रवृत्ति। वह तो धर्मेश ही ऐसा है, जिसने भूत को भुलाकर अपन लोगों पर असीम उपकार किया है। धर्मेश के कारण ही मुझे धरम का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ है। सचमुच मुझे तो उन्होने - कहो सेठ ! कहो सेठ !! की थपकियाँ दे-दे कर कुम्हार के घड़े की तरह घड़ा है। अन्यथा हम तो सुबह से शाम तक अपने नकली प्रशंसकों और चापलूसों से घिरे रहकर दानवीर, धर्मात्मा, कर्मवीर, धर्मवीर और न जाने क्या-क्या लम्बे-चौडे विशेषणो से युक्त प्रशंसा की मदिरा पी-पीकर पागल हो रहे थे और न्याय-अन्याय से अर्जित धन को उनके कहे अनुसार पानी की तरह बहा कर उससे प्रसन्न हो कर परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान कर रहे थे।

हमें भी कुछ पता नहीं था कि - इन भावो का फल क्या होगा ? सचमुच यदि धर्मेश के रूप मे यह धर्मावतार न मिला होता तो हमने तो नरक की ही तैयारी कर ली थी। धन्य है इस सत्पुरुष को। यह दीर्घायु हो और हम सबके कल्याण मे निमित्त बना रहे - मेरी तो यही मगल भावना है।"

मनमोहन यह सब सुन-सुनकर गद्गद् हो गया। आँसू पोंछते हुए बोला - "यदि हम लोगो को धर्मेश का सत्समागम न मिला होता, धर्मेश से प्रेरणा और आश्वासन न मिला होता, उनकी अमृतमय वाणी सुनने को नही मिली होती तो हम तो दुर्व्यसनो की दल-दल से निकल ही नही पाते। धर्मेश के प्रवचनो के अलावा उनके पवित्र जीवन से भी मुझे प्रेरणा मिली है। आज मै जो कुछ भी समझ सका हूँ, धर्मेश की देन है।"

सुनयना और सुनन्दा तो फूट-फूट कर ही रो पडी। नारियाँ भावुक तो स्वभावत· होती ही है। फिर धर्मेश के सत्समागम से इन्हे जो वचनातीत लाभ हुआ था, उससे वे गद्गद् हो रहीं थीं। वे कुछ न कह सकी, पर कुछ न कह कर भी उन्होने उद्धव की गोपियो की भाँति आँसुओ और हिचकियो से सब कुछ कह दिया -

नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि,
रही-सही सोऊ कहदीनी हिचकीन सौं

सम्पत सेठ से चुप नही रहा गया। वह पुन. बोला - "देखो, पुण्योदय से मुझे किसी खास आधि-व्याधि ने नही सताया, कोई मानसिक चिन्ताये नही रही, शारीरिक रोग नही हुए तो मैं जनसेवा, समाजसेवा की उपाधियो मे ही उलझ गया और वह काम भी पवित्र भाव से नहीं कर पाया। उनमे भी यश, प्रतिष्ठा का लोभ तो रहा ही, साथ में व्यक्तिगत स्वार्थ भी कम नही रहा। जिन्हे कहने मे ही लज्जा आये, ऐसी पाप प्रवृत्तियो में भी उलझ गया। यदि धर्मेश जैसे सत्पुरुष का समागम न मिला होता तो मैं तो उन अप्रशस्त भावों के कीचड़ से निकल ही नहीं पाता।

एक प्रवचन में धर्मेश ने कहा था कि - जो व्यक्ति राष्ट्रसेवा एवं समाज सेवा के नाम पर ट्रस्ट बनाकर अपने काले धन को सफेद करते हैं और उस धन के एक पंथ अनेक काज साधते हैं; उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है, उनके वे भाव तो स्पष्ट रूप से अप्रशस्त भाव ही हैं। सचमुच देखा जाय तो वे तो अपनी रोटियाँ सेकने में ही लगे हैं। वे स्वयं ही समझते होंगे की सचमुच वे कितने धर्मात्मा हैं; पर जो व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग सचमुच लोक कल्याण की भावना से जनहित में ही करते हैं, उसके पीछे जिनका यश-प्रतिष्ठा कराने का कतई/कोई अभिप्राय नहीं होता, उन्हें भी एकबार आत्मनिरीक्षण तो करना ही चाहिए कि उनके इन कार्यों में कितनी धर्मभावना है, कितनी शुभभावना है और कितना अशुभभाव वर्तता है ? आँख मीचकर अपने को धर्मात्मा, दानवीर आदि माने बैठे रहना कोई बुद्धिमानी नही है।

धर्मेश के उस उपदेश ने मेरी तो आँखे ही खोल दीं। मेरे तो जितने भी निजी ट्रस्ट हैं, उन सबके पीछे मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ जुडे हैं। सचमुच मेरे ये कार्य प्रशस्त आर्तध्यान की या शुभभावो की कोटि में भी नही आयेंगे। धर्म की बात तो बहुत दूर रही।

सच बात तो यह है कि - यदि किसी ने अस्पताल खोला तो उसे देखना होगा कि अल्पफल व बहु विधात तो नहीं हो रहा। एक जान बचाने में अनेको की जाने तो नहीं जा रहीं। दवाओ के नाम पर मद्य-माँस-मधु जैसे अभक्ष्य पदार्थों का उपयोग तो नहीं हो रहा। हिंसा से बनी दवाओ का उपयोग तो नहीं हो रहा है।

धर्मशालाये कोरी कर्मशालायें, कमाई के साधन और पापचारण के अड्डे तो नहीं बनती जा रहीं हैं। धार्मिक पाठशालायें प्राणी शास्त्र पढ़ाने वाले स्कूलों व कॉलेजों में परिवर्तित होकर मेंढ़क एवं केंचुआ जैसे प्राणियों के जानलेवा केन्द्र तो नहीं बन गये हैं ?

अनाथालय, विधवा आश्रम और महिला कल्याण केन्द्रों में रहनेवाले अनाथों को स्वावलम्बी बनाने के बजाय और उनका सही तरीके से

भरण-पोषण करने के बजाय उनका शारीरिक, आर्थिक व मानसिक रूप से शोषण तो नही हो रहा है ?

यदि ये ट्रस्ट और सस्थाए बिल्कुल सही ढग से चलते रहें, अपने-अपने पावन उद्देश्यो की पूर्ति करते रहे तो भी प्रशस्त शुभभाव होने से पुण्यबध के ही कारण होगे, धर्म तो तब भी नहीं होगा, क्योकि धर्म तो वीतराग परिणति का नाम है, रागभाव से धर्म नही होता।

धर्मेश के ऐसे युक्ति सगत और क्रान्तिकारी विचारो को स्मरण करते हुये सम्पत सेठ ने कहा - "धर्मेश के प्रवचनो से मेरा जीवन तो सुधरा ही अन्य नवागतुक श्रोता भी प्रभावित हुये तथा विराग के साथ आया उसका अनुज अनुराग का जीवन भी आमूलचूल बदल गया। वस्तुस्थिति सुनकर उसकी भी आँखे खुल गई।

धीरे-धीरे धर्मेश की ख्याति चारो ओर फैलने लगी। सम्पत सेठ तो पूर्ण समर्पित हो ही गया था बडे-बड़े राजनेता भी जिज्ञासा वश उन्हे सुनने यदा-कदा पहुँच जाते।

एक बार की बात है - अहिसा के पुजारी के रूप मे प्रसिद्ध एक बहुत बडे राजनेता, जिन्होने पशुवध बन्द करने का आन्दोलन छेड रखा था और उन्हे इस बात का गर्व था कि 'मैं जीवो की रक्षा करता हूँ, कर सकता हूँ।' एकबार प्रसगवश धर्मेश की सभा मे पहुँच गये। सयोग से उस समय धर्मेश का व्याख्यान भी अहिसा पर हो रहा था। समयसार के बंध अधिकार की गाथाओ को स्मरण करते हुए धर्मेश कह रहे थे -

"मैं मारता हूँ अन्य को, या मुझे मारें अन्य जन।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहें हे ! भव्यजन॥
मैं हूँ बचाता अन्य को, मुझको बचावें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहें हे ! भव्यजन॥
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो।

निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
है सुखी होते दु.खी होते, कर्म से सब जीव जब।
तू कर्म दे सकता न जब, सुख-दुःख दे किस भाँति तब ?"

इन छन्दो का अर्थ स्पष्ट करते हुए धर्मेश ने कहा था - जो ऐसा मानता है कि - मै किसी को बचाता हूँ, बचा सकता हूँ, वह मूढ है, अज्ञानी है।"

धर्मेशजी का यह भाषण सुनकर नेताजी को पहले तो कुछ अटपटा लगा, लगना ही चाहिए था, परन्तु जब पूरा व्याख्यान सुना तो वे जैनधर्म की अहिसा की गहराई को समझकर बहुत ही प्रभावित हुए और उन्होंने दूसरे दिन भी प्रवचन सुनने की भावना प्रकट की।

नेताजी ने मुस्करा कर अपने साथी-सहयोगियो से कहा था - मैं उन संत का व्याख्यान सुनना चाहता हूँ जो मुझे कल मूढ़ कह रहे थे। सचमुच, कौन किसको मार-बचा सकता है ? हम तो केवल झूठा अहकार ही करते है। हाँ, हमारे मन मे जो दया का भाव है, हमे तो उससे पुण्यबन्ध होता है और जो निर्दयता का, क्रूरता का भाव है, उससे पापबन्ध होता है। उस सन्त की यह बात शत-प्रतिशत सत्य है।

इसप्रकार जो भी धर्मेश को सुनता, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। जैनधर्म की तह तक पहुँचने का भाव उसमे जग ही जाता। धर्मेश को भी इस बात का सतोष था कि - जिनवाणी की बात जन-जन तक पहुँच रही है और लोग अपनी वर्तमान परिणति की पहचान कर इस पर भी गभीरता से विचार करते हैं कि - **इन भावों का फल क्या होगा।**

इसप्रकार लोगों के हृदय परिवर्तन होते देख-देखकर धर्मेश भी मन ही मन भारी प्रसन्न होते।

सम्पत सेठ के मन में धर्मेश के प्रति जो श्रद्धा और बहुमान हो गया था, वह नाना प्रकार से वाणी में व्यक्त होने लगा। सेठ के उद्‌गार सुन-सुनकर और भी अनेक लोगों के हृदय परिबर्तित हुये। •

३८

जिससे जिज्ञासु जीवो की जिज्ञासा का शमन होता है, चिरकालीन ज्ञान की प्यास बुझती दिखाई देती है, स्वभावतः उसके प्रति कृतज्ञता का भाव जागृत हुये बिना नही रहता।

लाभानन्द भी धर्मेश के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व और ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर उसे अपना गुरु मानने लगा था। धर्मेश के द्वारा आर्त, रौद्र और धर्मध्यान की सटीक हृदयस्पर्शी मार्मिक व्याख्या सुनकर लाभानन्द बहुत खुश था। धर्मेश का सान्निध्य पाकर वह अपने जीवन को धन्य मानने लगा था। अबतक उसे जो धर्मध्यान के साधन के रूप है योगासन और प्राणायाम के शिविर लगाने का आग्रह रहा करता था, वह आग्रह भी धर्मेश के आगमसम्मत एव युक्ति सगत विचार सुनने से जडमूल से उखड गया था, परतु धर्म के नाम पर क्रिया रूप मे कुछ न कुछ करने की मनोवृत्ति और बाह्याचार मे अभिरुचि होने से ध्यान जैसे चिन्तन के विषय को भी प्रयोगात्मक क्रिया के रूप मे करने का आग्रह अभी भी बना हुआ था।

लाभानन्द का सोच था कि कोरी बातो ही बातो में धर्म कैसे हो जायेगा ? कुछ करना भी चाहिए न ?

एक दिन धर्मेश को अच्छे मूड मे, प्रसन्न मुद्रा मे देखकर लाभानन्द ने कहा - "गुरुजी ! इन प्रवचनों एव ज्ञान-गोष्ठी मे जो ध्यान का विषय चल रहा है, उससे बहुत लोग लाभान्वित व प्रभावित हुये हैं, हो रहे हैं। जहाँ देखो वहीं यह विषय खूब चर्चित हो रहा है। आर्तरौद्र ध्यानो के भयकर दुष्परिणामों के भावपूर्ण चित्रण से सभी लोग बहुत प्रभावित हैं आपके इन प्रवचनो को सुनकर मेरे तो रोगटे खड़े हो जाते हैं।

यदि आपने हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया होता तो हमें तो कुछ खबर ही नहीं थी, हमारा ध्यान ही इधर नहीं गया कि '**इन भावों का फल क्या होगा ?**'

अब ऐसा लगने लगा है कि इन आर्तरौद्र रूप भावों से कैसे बचा जाये ? इनसे बचने के लिए क्या किया जाये ?''

धर्मेश ने कहा - ''लाभानन्द ! इसका एक ही उपाय है - तत्त्वाभ्यास।

तत्त्वाभ्यास के बल से जब परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट ही भासित नहीं होंगे, तो स्वत ही धीरे-धीरे आर्त, रौद्र ध्यान कम होंगे और धर्मध्यान में उपयोग अधिक लगने लगेगा।''

लाभानन्द ने विनम्रतापूर्वक पुनः निवेदन किया - ''आपने जो धर्मध्यान की चर्चा की, उससे धर्मध्यान का वैचारिक पक्ष तो बहुत ही अच्छा स्पष्ट हो गया। सोचने-विचारने की विपुल विषयवस्तु भी ध्येय के रूप मे सामने आ गई। अब क्यो न इसी ध्येय रूप विषयवस्तु को प्रयोग पद्धति से अपने जीवन का अभिन्न अग बनाने के लिये कोई ऐसी योजना बनाई जाये, जैसी कि योग साधना और ध्यान शिविर लगाने वाले करते है ?

क्या जिनागम मे ध्यान की प्रयोग पद्धति का कहीं/कोई विवरण नही मिलता। मुनिजन ध्यान तो करते ही है न ? क्यो न मुनिजनों की प्रयोग पद्धति को ही आशिक रूप से हम भी अपनाये ? मुझे ऐसा लगता है कि कोरी बातें करते रहने से कुछ भी उपलब्धि नहीं होगी।''

धर्मेश ने लाभानन्द की रुचि और पात्रता का विचार कर कहा - ''भाई ! तत्त्वचर्चा को 'कोरी बातें' कहकर इसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है। मैं तुम्हारी भावना को समझ रहा हूँ। तुम्हे ध्यान के लिये कोई आलम्बन चाहिए, धर्मध्यान के योग्य वातावरण चाहिए, कुछ न कुछ करने को चाहिए। संभवतः तुम जैसे, जीवों के लिए ही आचार्य माघनन्दि ने 'ध्यानसूत्राणि' नाम से तीन अध्यायों में विभाजित १७४ सूत्रों की एक आध्यात्मिकम रचना की होगी। इन सूत्रों के आधार से एकान्त में धर्मध्यान करने का प्रयोगात्मक अभ्यास किया जा सकता है।

धर्मध्यान के साधनो के रूप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है त्रियोगशुद्धि। मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि - इन तीनो का एक नाम त्रियोगशुद्धि है। एतदर्थ साधक को जितनी देर धर्मध्यान करना हो, उतनी देर के लिए यथा सम्भव अन्य सब शल्यो से निशल्य होकर, सब कार्यों के भार से निर्भार होकर तथा सभी चिन्ताओ से निश्चिन्त एव निराकुल होकर शोक-भय-विषाद आदि से रहित हो मनको शुद्ध करना मन शुद्धि है। मौन धारण करना वचन शुद्धि है तथा स्नानादि रूप बाह्य शुद्धि तथा भूख-प्यास, मल-मूत्र की बाधाओ से निवृत्त होने रूप अन्तरगकायशुद्धि है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान के योग्य स्थान का वर्णन करते हुए एकदम शान्त, क्षोभरहित स्वच्छ और बिल्कुल एकान्त स्थान ही धर्मध्यान के लिये उपयुक्त बताया है।

वे लिखते हैं - सिद्ध क्षेत्र, सतो की साधनास्थली, तीर्थों के कल्याणक क्षेत्र, समुद्र के समीप, वनप्रातर नदीतट, पर्वतशिखर, गुफा, श्मशान, नीरवस्थान, उपद्रव रहित निर्जन स्थान ही ध्यान योग्य है।

ध्यानाभ्यास की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि मे निराकार निज आत्मा का ध्यान किन्हीं साकार प्रतीको के आलम्बन से ही हो सकता है। एतदर्थ जिनवाणी मे जिनेन्द्र प्रतिमाये, मंत्रों के उच्चारण और स्तोत्र पाठ आदि साकार प्रतीक रूप आलम्बन स्वीकार किये गये है। इनके आलम्बन से हुये आत्मध्यान को ही सावलम्ब ध्यान कहते है तथा जिस आत्मध्यान में मत्र आदि के आलम्बन न हो, उसे निरालम्ब ध्यान कहते हैं। इन सावलम्ब एव निरावलम्ब के भेद से दो प्रकार के ध्यानो का उल्लेख भी आगम मे मिलता है।

सावलम्बन ध्यान करने हेतु सर्वप्रथम साधक अपने देह देवालय मे विराजमान भगवान आत्मा को निर्मल जल के रूप मे अनुभव करे और अपने राग-द्वेष भरे मन को आत्मारूपी जल में डुबोये। जब भी मन वहाँ से हटे तो तुरत अर्हं, सोऽहं, सिद्ध, अरहत-सिद्ध, ॐ आदि मत्र पढ़ने लगे। मत्र पढ़ते-पढ़ते पुनः उसी आत्मारूपी जल में डुबोये। इस क्रिया को पलट-पलट कर

बारम्बार करे। बीच-बीच मे आत्मा के स्वभाव का इसप्रकार विचार करे कि ''यह आत्मा परमशुद्ध ज्ञानानन्दमय है। जब प्रथम आत्मारूपी जल के आलम्बन से मन ऊब जाये तो उस आलम्बन को पलट कर ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को शरीर प्रमाण आकार के रूप मे स्फटिक मणि की मूर्ति समान निर्विकारी अनुभव करे। फिर इसी आत्मा रूपी स्फटिक मणि की मूर्ति के दर्शन मे मन को एकाग्र करे, उसी में लीन हो जाये। जब-जब मन वहाँ से हटे तो पचपरमेष्ठी वाचक मत्रो का आलम्बन लेकर उन्हे जपता रहे। बीच-बीच मे आत्मा के स्वरूप का विचार करता रहे।

(अ) **पिण्डस्थ स्थान** - यह प्रारम्भ करते हुये शरीर में स्थित भगवान आत्मा का ध्यान करे। 'पिण्ड' अर्थात् शरीर स्थ अर्थात् स्थित। शरीर मे स्थित भगवान आत्मा के चिन्तवन के पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं।

अपने नाभि कमल के मध्य स्थित नव केवललब्धियो से सम्पन्न एव पचकल्याणको को प्राप्त वीतराग सर्वज्ञ देव का ध्यान भी पिण्डस्थ ध्यान है।

(आ) **पदस्थ ध्यान** - इस ध्यान मे मत्र के पदों या अक्षरों के द्वारा आत्मा-परमात्मा ध्यान किया जाता है।

(इ) **रूपस्थ ध्यान** - इस ध्यान की विधि यह है कि - समोशरण मे तीर्थंकर अरहत भगवान अन्तरिक्ष मे सिहासन पर विराजमान हैं। अपने स्वरूप मे लीन है, आत्मा का रस पान कर रहे हैं। उनको परम शान्त मुद्रा मे देखकर भक्तजन अपने आत्मा का स्मरण करते हैं और आत्मा में लीन हो जाते हैं।

(ई) **रूपातीत ध्यान** - इस ध्यान मे सिद्ध भगवान को शरीर से रहित पुरुषाकार विचार करके अपने आपको सिद्ध समान शुद्ध स्वरूप ध्याकर उसी मे लीन हो जाता है। यह रूपातीत ध्यान है।

आचार्य माघनन्दी ने धर्मध्यान करने के लिये आत्मा के लक्ष्य से जो आध्यात्मिक सूत्रों की रचना की है, वे आत्मा का साक्षात्कार कराने में पूर्ण समर्थ हैं। उनका आलम्बन लेकर हम प्रतिदिन दोनों सांध्यकालों में एकान्त में बैठकर अपने आत्मा का ध्यान साक्षात्कार कर सकते हैं कि –

"मैं राग-द्वेष-मोह क्रोध-मान-माया-लोभ रूप विकार से भिन्न अविकारी आत्मा हूँ, मैं पचेन्द्रिय विषय व्यापार रूप सुखाभास से भिन्न शास्वत सुख स्वरूप हूँ, मैं मन-वचन-काय की जड क्रियाओं से भिन्न चेतन ज्ञानमूर्ति हूँ, मैं भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म के प्रभाव से परे अप्रभावी आत्मा हूँ, मैं पुण्याधीन ख्याति-लाभ-पूजा से पृथक् पूर्ण स्वाधीन स्ववस्तु हूँ, मैं संसार की हेतुभूत माया, मिथ्यात्व और भोगकाक्षारूप निदान शल्यो से भिन्न निःशल्य आत्मा हूँ, मैं शब्दगारव, रसगारव, ऋद्धिगारव से रहित मार्दवधर्म स्वभावी हूँ, मैं अन्तर्बाह्यजल्प स्वरूप मन-वचन और जड प्राणमय शरीर से भिन्न चैतन्य प्राणमय आत्मा हूँ।"[१]

इसप्रकार प्रथम सूत्र के आधार से चिन्तन करे कि - मैं समस्त विभाव भावों से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ

दूसरे सूत्र के आधार से यह सोचे कि - "मैं स्वभाव से सर्व दोषो से भिन्न निरंजन शुद्धात्मतत्त्व हूँ। अपने इस शुद्धात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान व उसी मे तन्मयता रूप आचरण रूप अभेद रत्नत्रय की साधना से निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। उस निर्विकल्प समाधि से वीतरागी सहजानन्द की सुखानुभूति होती है, वह वीतरागी सहजानंद ही मेरा प्रगट स्वरूप है, लक्षण है। उसी वीतरागी सहजानन्द से मेरे आत्मा मे स्व-सवेदन की प्राप्ति होती है और उस स्व-संवेदन से स्वात्मा मे लीनता रूप सम्यक्चारित्र में दृढ़ता होती जाती है। मैं उसी अभेद रत्नत्रय से भरपूर हूँ।[२]

इसी प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार इन आध्यात्मिक सूत्रो के आलंबन से आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। विचारना चाहिए कि -

---

१ राग-द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ, पचेन्द्रियविषय व्यापार, मनोवच कायकर्म, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म, ख्याति-पूजा-लाभ, दृष्ट श्रुतानुभूत भोगकाक्षारूप निदान-माया-मिथ्यात्व शल्यत्रय, गारवत्रय, दण्डत्रयादि विभाव परिणाम शून्योऽहं ॥१॥

२. निज निरजन स्वशुद्धात्म सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान रूपाभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसंजात वीतराग सहजानन्द सुखानुभूतिरूप मात्रलक्षणे स्वसंवेदनज्ञान सम्यक् प्राह्याभारित विज्ञानेनगम्य प्राह्याभरितावस्थोऽहम् ॥ २ ॥

"मैं सहज पारिणामिक भाव स्वभाव हूँ। मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। मैं चैतन्य कला स्वरूप हूँ। मैं द्रव्यकर्म भावकर्म नो कर्म रहित चैतन्यमूर्ति हूँ। मैं चैतन्य गुण रत्नों का समुद्र हूँ। मैं चैतन्यमय अमर कल्पवृक्ष हूँ। मैं शुद्ध चैतन्यमय ज्ञानामृत का पान करने वाला हूँ। मैं शुद्ध चैतन्य रूप रस से बने हुये रसायन स्वरूप हूँ। मैं चैतन्य चिन्ह स्वरूप हूँ। मैं समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली केवलज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ। मैं उस ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूप हूँ। मैं पापरहित-निष्पाप स्वरूप हूँ। मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ। मैं शुद्ध अखण्ड एक मूर्तिस्वरूप हूँ। मैं अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान व अनन्त सुख स्वरूप हूँ। मैं अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ।[1]

मैं परमानन्द स्वरूप हूँ, परमज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, सदानन्द स्वरूप हूँ, चिदानन्द स्वरूप हूँ, निजानन्द स्वरूप हूँ, निज निरजन स्वरूप हूँ, सहज सुखानदस्वरूप हूँ, नित्यानन्द स्वरूप हूँ। शुद्धात्म स्वरूप हूँ, समयसार स्वरूप हूँ।[2]

"मैं परम मंगल स्वरूप हूँ, परम उत्तम स्वरूप हूँ, परम शरणस्वरूप हूँ, सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को कारण स्वरूप हूँ। मैं परम समाधि स्वरूप हूँ। में परम भेदज्ञान स्वरूप हूँ।

---

१ सहज शुद्ध पारिणामिकभाव स्वभावोऽहम्, सहज शुद्ध ज्ञानानन्दैक स्वभावेऽहम्, चित्कला स्वरूपोऽहम्, चिन्मात्र मूर्ति स्वरूपोऽहम्; चैतन्य रत्नाकर स्वरूपोऽहम्, चैतन्य द्रुम स्वरूपोऽहम्; शुद्ध चैतन्यामृताहार स्वरूपोऽहम्, चैतन्य चिन्ह स्वरूपोऽहम्; ज्ञान ज्योति स्वरूपोऽहम्, ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूपोऽहम्, निरवद्य स्वरूपोऽहम्, शुद्ध चिन्मात्र स्वरपोंऽहम्, शुद्धाखण्डैक मूर्तस्वरूपोऽहम्; अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख स्वरूपोऽम्; अनन्त शक्ति स्वरूपोऽहम्,

२ परमानन्द स्वरूपोऽहम्, परमज्ञानान्द स्वरूपोऽहम्, सदानन्द स्वरूपोऽहम्, चिदानन्द स्वरूपोऽहम्, निजानन्द स्वरूपोऽहम्, सहज सुखानन्द स्वरूपोऽहम्, शुद्धात्म स्वरूपोऽहम्, समयसार स्वरूपोऽहम्,

परममंगल स्वरूपोऽहम्, परमोत्कृष्टस्वरूपोऽहम्, परम शरणोऽहम्, सकल कर्मक्षय कारण स्वरूपोऽहम्, परम समाधिस्वरूपोऽहम्, परम भेदज्ञान स्वरूपोऽहम्,

मैं परम स्वसंवेदन स्वरूप हूँ। मैं सहज आत्मा से उत्पन्न आनन्दस्वरूप हूँ। मैं परम आनन्द स्वरूप हूँ। मैं परम ज्ञानानन्द स्वभाव का धारी हूँ। मैं सदानन्द स्वरूप हूँ, चिदानन्द स्वरूप हूँ। मैं अमूर्त हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं निष्कलंक हूँ, मैं निर्मोह स्वरूप हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, मैं अक्षय स्वरूप हूँ, मैं शास्वत हूँ। मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, मैं पूर्ण परमात्म स्वरूप हूँ। मैं पूर्ण स्वाधीन स्वयंभू हूँ।[1]

इत्यादि विशेषणो से अपने भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना सर्वकर्म क्षय का हेतु है। यही निश्चयतः धर्मध्यान है।''

सावलम्ब ध्यान के भेदो की चर्चा का समापन करते हुये धर्मेश ने कहा -

''इसप्रकार ध्यान की प्राथमिक भूमिका मे विविध प्रकार के वीरागतावर्द्धक आलम्बनो पर अपने उपयोग को एकाग्र करने का अभ्यास करते हुये आत्मसम्मुख होने का अभ्यास किया जा सकता है। पर धर्मध्यान के इन सब भेद-प्रभेदो के रूप मे किये जानेवाला ध्यान एकमात्र शुद्धात्मा के लक्ष्य से ही किया जाना चाहिए, क्योंकि सब धर्मध्यानो मे एक आत्मा ही ऊर्द्ध होता है। आत्मज्ञान के बिना किये गये ध्यान का उपक्रम तो वस्तुतः धर्मध्यान ही नही है। अतः आत्मार्थियो को एव मोक्ष अभिलाषियो को धर्मध्यान करने के लिए पहले आत्मज्ञान करने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है। अन्यथा इन रागादिभावो का फल तो अनन्त ससार ही है।''

इस तरह आत्मज्ञान करने की प्रेरणा के साथ धर्मेश का प्रवचन पूरा हुआ।

यह प्रवचन शिविर का अन्तिम प्रवचन था। अतः प्रवचनोंपरान्त लाभानन्द ने प्रस्ताव रखा कि शिविर समापन के उपलक्ष्य में धर्मेशजी की अध्यक्षता मे ही एक समापन समारोह का आयोजन हो, जिसमें शिवरार्थी शिविर में हुये अपने खट्टे-मीठे अनुभव सुना सके, उद्गार प्रगट कर सकें, कृतज्ञता ज्ञापन कर सकें एव आवश्यक सुझाव भी दे सकें। सभी को लाभानन्द का प्रस्ताव उपयोगी लगा। अतः अगले दिन समापन समारोह की घोषणा के साथ कार्यक्रम समाप्त हो गया। शिवरार्थी शिविर में हुये आशातीत ज्ञान लाभ के कारण मन ही मन प्रसन्न होते हुये अपने-अपने आवास पर चले गये। •

---

१ परम स्वसंवेदन स्वरूपोऽहम्, सहजानन्द स्वरूपोऽहम्, परमानन्द स्वरूपोऽहम्, परम ज्ञानानन्द स्वरूपोऽहम्, सदानन्द स्वरूपोऽहम्, नित्योऽहम्, निष्कलंकोऽहम्, निर्मोह स्वरूपोऽहम्, कृतकृत्योऽहम्, अक्षयस्वरूपोऽहम्, शास्वतोऽहम्, सिद्धस्वरूपोऽहम्, सोऽहम्। स्वयंभूरऽम्।

३७

''चींटी की चाल चलनेवाला व्यक्ति भी यदि सही दिशा में चल रहा हो तो देर-अवेर ही सही, पर कभी न कभी तो अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है। इसके विपरीत गरुड़ पक्षी की भाँति हवा की चाल चलनेवाला व्यक्ति भी यदि विपरीत दिशा मे चल पड़े या प्रमाद मे ही पड़ा रहे, चले ही नहीं तो वह कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता।

किसी सस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है -

गच्छन् पिपीलिका याति, योजनानि शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनतेयापि, पदमेकं न गच्छति ॥

चलती हुई चींटी सौ-सौ योजन तक चली जाती है और न चलता हुआ वेनतेय पक्षी एक पद भी आगे नहीं बढ़ पाता।

धर्म के क्षेत्र में अधिकाश व्यक्तियों की वृत्ति प्रमाद में पड़े गरुड पक्षी जैसी देखकर ही संभवतः कवि को यह काव्य लिखने का भाव आया होगा।''

समापन समारोह में धर्मेश के विषय मे ये विचार व्यक्त करते हुये लाभानन्द ने कहा -

''भले ही धर्मेश गुरुजी बाल्यकाल से अपनी जीवन यात्रा में चीटी की चाल चले, पर आगम और युक्ति का आलम्बन लेकर अविरल रूप से सही दिशा में चलते रहे तो प्रौढ़ होते-होते अपने स्व-विवेक के सहारे गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व से व्याप्त संसार के टेढ़े-मेढ़े रास्तों को पार करके आखिर अपने लक्ष्य की सीमा रेखा को छू ही लिया।''

ज्ञातव्य है, कार्य के सम्पन्न होने में अन्य सब कारण कलाप तो यथासमय मिल ही आते हैं, पर स्वयं का पुरुषार्थ उनमें सर्वाधिक प्रबल हेतु होता है।

धर्मेशजी के जीवन को देखो । उनके जीवन में पुरुषार्थ ही प्रबल रहा। अन्यथा अन्य कारण तो पहले भी असंख्य बार मिले; पर सम्यक् पुरुषार्थ बिना सफलता कहाँ मिली ?

जब धर्मेशजी के उपादान की योग्यता ने जोर मारा तो समर्थ निमित्त के रूप मे उन्हे घर बैठे पण्डित श्री जिनेशचन्द्रजी का सहज सत्समागम प्राप्त हो गया, जिनका सान्निध्य पाकर धर्मेशजी धन्य हो गये।

निमित्त कितने भी अकिंचित्कर क्यो हो , उनकी अकिंचित्करता का शत-प्रतिशत श्रद्धान होने पर भी सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की स्वीकृति के कारण ज्ञानियो को भी भूमिकानुसार कृतज्ञता का भाव भी आता ही है। कहा भी है - 'नहि कृतमुकार साधवो विस्मरन्ति'

धर्मेशजी को तत्त्वज्ञान पण्डित जिनेशचदजी से प्राप्त हुआ था; अतः वे पण्डित जिनेशचन्द्रजी के उपकार का स्मरण किये बिना कैसे रह सकते थे। धर्मेशजी के तो रोम-रोम में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव भरा था।

वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि अकर्तृत्व आदि के सिद्धान्त अकाट्य हैं, पर साथ ही वे यह भी समझते थे कि लौकिक व्यवहार से उन सिद्धान्तो का कतई/कोई विरोध नही है। भूमिकानुसार सद्‌निमित्तों के प्रति कृतज्ञता का भाव भी आये बिना नहीं रहता और कार्य निष्पन्न होने मे निमित्तो का कोई योगदान भी नही होता।

जिनवाणी का यह कथन कितना सटीक है कि **जो निमित्तों को न माने उनका ज्ञान झूठा और जो निमित्तों को कर्त्ता माने उनका श्रद्धान झूठा है।**

भली होनहार से धर्मेश को माता-पिता भी ऐसे संस्कारी और सरल स्वभावी मिले जो उनके तत्त्वज्ञान मे साधक तो नहीं बन पाये, पर वे उनकी आध्यात्मिक गतिविधियों मे बाधक बिल्कुल नहीं बने। उन्होंने अपने पुत्र व्यामोह को अपने विवेक पर हावी नहीं होने दिया। समय-समय पर प्रसन्नता प्रगट करके धर्मेशजी की गतिविधियों को प्रोत्साहित ही किया। माँ की ममता भी धर्मेश की धर्माराधना मे कभी बाधक नहीं बनी।

परिणामों की विशुद्धि और ज्ञान का क्षयोपशम तो होनहार का अनुसरण करते ही हैं - सो इनकी भी धर्मेश में कोई कमी नहीं थी।''

लाभानन्द ने अपने भाषण में आगे कहा - ''यहाँ विचारणीय बात तो यह है कि ये सब साधन तो हम सबको भी अनेक बार मिले, पर इनसे हुआ क्या ?

धर्मेशजी यदि अपने अन्तर्मुखी उग्र पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्तव्य पथ पर अडिग नहीं रहते, अपने दृढ संकल्प से अविचलित नहीं रहते तो कहीं भी भटक सकते थे। क्या-क्या सकट नहीं झेले इन्होंने ? कैसे-कैसे प्रतिकूल प्रसंग आये इनके सामने, फिर भी ये अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। सो ठीक ही है -

विचारवान और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति अपने गन्तव्य में आये सुख-दु:ख की परवाह नही करते।

यही कारण था कि धर्मेशजी ने न तो अपनी सुख-सुविधाओं की ओर मुँह फेरकर देखा और न दु:खो की ही परवाह की।

धर्मेशजी के सत्सग से अमित का जीवन तो सुधरा ही, सुनन्दा, सुनयना के दु:ख के बादल भी छट गये। बेचारी वे भी आर्तध्यान के महापाप से बच गईं। मनमोहन भी आत्महत्या जैसे जघन्य पाप से बच गया। अनुराग को भी सन्मार्ग मिल गया।

सम्पत सेठ जैसे अरबपति उद्योगपति को भी यह समझ मे आ गया कि **यदि परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान में ही जीवन चला गया तो शायद सातवें नरक में भी जगह नहीं मिलेगी; अत: जीवन के रहते इससे ममत्व कम करके शीघ्र ही आत्मा-परमात्मा की शरण में आ जाना चाहिए।**

सम्पत सेठ के साथ आये विद्वानों को भी धर्मेशजी के पवित्र जीवन से बहुत कुछ प्रेरणा मिली। जो विद्वान् अबतक स्वाध्याय के नाम पर केवल बौद्धिक व्यायाम ही किया करते थे, वे अब यह महसूस कर रहे थे कि सचमुच हमारे इस बुद्धिविलास के बगीचे से निराकुल सुख शान्ति के सुमधुर एवं सुगंधित फल-फूल तो फलते-फूलते ही नहीं है। यह कैसी बंजर वाटिका है, जिसमें धर्म के फल-फूल ही नहीं फलते-फूलते ?''

लाभानन्द के पश्चात् एक वरिष्ठ विद्वान् ने कहा - "सा विद्या या विमुक्तये सचमुच वही विद्या विद्या है, जिससे मुक्ति मिले या जो मुक्ति के लिये सार्थक सिद्ध हो। एक अध्यात्म विद्या ही ऐसी विद्या है, जिससे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, कर्म बन्धनो से मुक्ति मिलती है।

अन्य लौकिक विद्याये तो कहने की विद्याये हैं। जो आनन्द के बजाय अशान्ति मे कारण बने, उन्हे विद्या कहेगा ही कौन ? विद्या मानेगा ही कौन ?

जो सुख शान्ति देने के बजाय ज्ञान का गुमान पैदा करे, आकुलता उत्पन्न करे, वह भी कोई विद्या है ?

कहने को तो बहत्तर (विद्याये) कलाये हैं, पर सचमुच तो उसमे दो ही प्रमुख है, उन दो प्रमुख कलाओ मे प्रथम कला तो आजीविका का उपार्जन करना है और दूसरी कला है आत्मा का उद्धार करना। बस ये दो कलाये ही सार्थक है। किसी ने ठीक ही कहा है -

'कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार ।
एक जीव की जीविका, दूजी जीवोद्धार ॥

अत. जिन्हे जीविका की कोई समस्या नहीं है; उन्हे तो जीवोद्धार के काम मे तत्काल लग ही जाना चाहिए।और जिन्हे आजीविका की समस्या है, उन्हे भी आजीविका से बचे शेष समय का सदुपयोग जीवोद्धार मे ही करना चाहिए।

इस दृष्टि से धर्मेशजी का जीवन और उनके सदेश सचमुच आदर्श है, हम सब के लिए अनुकरणीय है।"

सम्पत सेठ के साथ आये वयोवृद्ध विद्वान् ने अपनी साथी वरिष्ठ विद्वान के मुँह की बात छीनते हुए गद्गद् भाव से कहा - "अरे भाई ! तभी तो हम कहते हैं कि तुम भी हमारे साथ एक-दो माह रुककर इस ज्ञानगगा मे आकठ निमग्न होकर स्नान करो और अपने राग-द्वेष से मैले मन का मैल धोकर ही जाओ। तुम्हारे कौन से नन्हें-मुन्ने बाल-बच्चे रो रहे हैं। पर तुम तो हमारी बात सुनने को ही तैयार नही। दो जने तो चले ही गये हैं,तुम भी जाने की तैयारी मे हो। "

धर्मेश के बालसखा अमित ने विद्वानों को लक्ष्य करके अपने वक्तव्य मे कहा - "आप लोग तो विद्वान् हो आप लोगो के रुकने से हमे भी विशेष लाभ होगा, क्योंकि आप के निमित्त से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण व सूक्ष्म चर्चा चलेगी। शिविरों मे तो हम जैसे सामान्य स्तर के लोगो का बहुमत रहने से स्थूल विषय ही अधिक निकलता है। आप लोग एक माह रुककर देखिये तो सही, कितना आनन्द आता है। आप लोगो के द्वारा हमे भी तो लाभ होगा। आप अवश्य रुके। आशा है आप लोग मेरे अनुरोध पर विचार करेंगे।"

इतना कहकर अमित ने अपने भाषण से विराम लिया ही था कि वहाँ बैठे सभी ने अमित का समर्थन कर उन विद्वान् महोदय से रुकने का खूब-खूब आग्रह किया।

अमित ने पुन कहा - "अरे । मै तो नम्बर एक का नास्तिक था, पर धर्मेशजी मे तो ऐसी चुम्बकीय शक्ति है, जिससे शायद ही कोई बच सके। मुझ जैसे पापी को भी धर्मेशजी आखिर राह पर ले ही आये।"

कहते-कहते अमित की आँखो से आसूओ की धारा प्रवाहित होने लगी।

अन्त मे अपने दीक्षान्त भाषण मे धर्मेशजी ने कहा - "देखो, इस बीस दिवसीय शिक्षण शिविर मे हम लोगो ने वर्तमान मे हो रहे अपने भावो की समीक्षा द्वारा आर्त-रौद्र ध्यानो को दृष्टि मे रखते हुए 'ध्यान' विषय को मुख्य केन्द्र बिन्दु बनाकर आगम के आलोक मे विचार-विमर्श किया। अपनी वर्तमान परिणति को समझने की कोशिश की तथा ससार की कारणभूत इस शुभाशुभ परिणति से मुक्त होने के उपायों पर भी सक्षेप में चर्चा की।

किचित् मतभेदो के साथ अधिकांश भारतीय दर्शनों मे निर्वाण की प्राप्ति के लिए मूलत· आत्मा-परमात्मा के ध्यान को ही एकमात्र अन्तिम उपाय दर्शाया गया है।

यह ज्ञातव्य है कि ध्यान व्यक्ति की बहिर्मुखी मानसिक वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाता है। वस्तुत. पाँच इन्द्रियो व मन के द्वारा विकेन्द्रित ज्ञान किरणो को अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से आत्मा पर केन्द्रित करने की प्रक्रिया ही धर्मध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने वचनालाप का एव चित्तवृत्तियो का

निरोध कर पूर्ण अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया को सामान्यत: ध्यान सज्ञा दी है। पर पूर्ण अन्तर्मुखी होने से पहले आत्मज्ञान परमावश्यक है। आत्मज्ञान के बिना आत्मध्यान या धर्मध्यान सभव नहीं है और धर्मध्यान के बिना सच्चे ध्येय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ध्रुव धाम आत्मा के ध्यान से ही पर्याय मे पूर्णता की प्राप्ति होती है।

इसके लिए जिनागम मे प्रतिपादित वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त सर्वाधिक उपयोगी है। अत. पहले व्यवहार धर्मध्यान के माध्यम से तत्त्व विचार करना आवश्यक है।

जबतक कर्त्ताबुद्धि से पर मे किसी प्रकार से परिवर्तन करने/कराने की मान्यता या सोच रहेगा, तबतक मन की वृत्ति/प्रवृत्ति पर नियत्रण सभव नही है। अत: सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान का एव वर्तमान मे हो रहे **अपने भावो का फल क्या होगा।** इस बात का विचार करना चाहिए।"

शिविर समापन के साथ 'ध्यान' विषय की चर्चा का उपसहार करते हुए धर्मेश का जो प्रवचन हुआ, उससे सभी श्रोताओ के स्मृति पटल पर सम्पूर्ण शिविर मे चर्चित विषय-वस्तु चलचित्र के चित्रपट की भाँति प्रतिबिम्वित हो गई।

सभी श्रोताओ ने मन ही मन अपने ज्ञान-गुरु धर्मेशजी का धन्यवाद ज्ञापन किया और उनके स्वास्थ्य व दीर्घजीवन की कामना की।

अन्त मे ज्ञानानदस्वभावी राष्ट्रीय गीत के साथ शिविर समापन समारोह विसर्जित हुआ। अगला आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर शीघ्र लगे, इस आशा व अभिलाषा के साथ धर्मेशजी एव कार्यकर्त्ताओ को धन्यवाद देते हुए सभी लोग अपने-अपने घर को प्रस्थान कर गये। •